आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।। टेक ।।

मैं वह हूँ जो है भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह रागवितान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुख का नहिं लेश निदान ।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ।।५।।

—०—

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

"सहजानन्द" महाराज

का

देवपूजा पर प्रवचन

कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव ।

पञ्चाशदष्टौ च सहस्रसंख्यमेतच्छ्रुतं पञ्चपदं नमामि ॥

अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सव्वं ।

पणमामि पंचभेदं सुदणाणमहोवयं सिरसा ॥

देवपूजाकी वक्तव्यताका उद्देश्य शरण्यताका निर्देश कर शरण्यको आत्मसर्वस्व समर्पण कर निर्भार होना — बन्धुवर ! आज हम इसपर विचार करने बैठे हैं कि सुखशांति के लिये हमें किसका सहारा लेना चाहिये ? इसमें संदेह नहीं कि परवस्तुओंको आश्रयमात्र बनाकर अपने ही गुणोंके विकृत परिणमनमें परिणत होनेके कारण जगतके प्राणी दुःखी हो रहे हैं। इसका मूल अज्ञान है। जब यह आत्मा अपने स्वरूपका और जगतका यथार्थ बोध पाता है तब वह परमें निजकी भावना छोड़कर विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव वाले निज शुद्ध आत्मतत्त्वमें रुचि करने लगता है। इस अन्तरात्माकी शान्तिके लिए जो प्रयत्न होता है वह है निर्मल विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभावमें परिणत परमात्माकी दृष्टि और निजकी कल्पनासे रहित निज सहज स्वभावकी दृष्टि। इसी प्रेरणासे प्रेरित होकर शुभ रागवश उद्भूत भगवद्भक्तिमें अन्तरात्माका प्रयास होता है। इसके फलस्वरूप व्यवहारमें उस सद्गृहस्थकी देवपूजामें प्रवृत्ति होती है। देवकी स्थिति पुजारीका उपादेय लक्ष्य है। क्योंकि उसे भेदविज्ञानके कारण किसी भी इतर पदार्थमें रुचि नहीं रही। अतः व्यवहारसे अथवा उपचारसे तो पूज्य परमेष्ठी भगवानका सहारा लिया जाता है और निश्चयसे निज सहज सिद्ध चैतन्यप्रभुकी दृष्टि रूप सहारा होता है। हम सबको 'सत्य सहारा पर विचार करना आवश्यक है, जिसके लिये व्यवहार और प्रयोजन पहिचानते हुए देवपूजापर गंभीर दृष्टिपात करें। पूजामें निश्चयरूप भाव अर्थात् आध्यात्मिकताका पुट कैसा रहना चाहिये, इसको बताते हुए विवेचन किया जायगा। सर्वप्रथम तो पूजकमें ऐसा आचार विचार होना चाहिये, जिससे पूज्यदेव और उनकी स्थापित प्रतिमाको विनयपूर्वक ध्यानमें रख सकें। ऐसा समय नहीं कि विषय कषायकी लीनता भी बनी रहे और भगवत पूजन भी करता जाय।

पूजककी पात्रताका आधार निष्पाप जीवन—आचारमें सबसे पहले सप्तव्यसनका
होना चाहिये। दुनियामें कोई किसी तरह बडा कहलाता रहे तो रहे, लेकिन सप्त-
नका त्याग किये बिना पूजाका अधिकारी नही है। वह किस तरहसे दृष्टिपात करना
ये ? सट्टा और जुआ खेलने वालेका चित्त ऐसा चंचल रहता है कि चित्त और कही
लगता, उसी तरफ दौडता है। ऐसी चंचलतामे वीतराग और वीतरागताका स्वरूप
आ सकता है ? तब उसकी उपासना कैसे हो सकती है ? इसी तरहसे मांसभक्षीके
र हृदयमें भी अहिंसामय भगवानका चित्र अंकित नही हो सकता, और मदिरापायी तो
लतुल्य उन्मत्त ही होता है, उसमे उपासनाका प्रवेश भी नही। शिकार खेलना जैसा
यी और निन्दनीय कर्म करते हुए वीतरागताकी पूजाको स्थान ही कहाँ ?
उसका स्थान हो तो हृदयमे निरपराध प्राणियोको मारनेके मनोरंजन कहनेकी
ता भी नही हो जाती। वेश्यागामीका चित्त कामकी वासनासे संतप्त और धर्मसे शून्य
ता है, उसका अनुराग वीतरागतामें नही, सरागतामे और वह भी अति निन्दनीय वेश्या
आसक्तिमें होता है। चारुदत्त जैसा धर्मात्मा और शीलवान पुरुष जब इस व्यसनमें
स जाता है तो उसके जीवनमें कैसा विलक्षण परिवर्तन होता है कि वह पिताकी मृत्युके
माचारको सुनकर भी घर नही जाना चाहता, अपुके लिये भी वेश्याका विरह नही सह
कता।

से मदिरजीको चलता है तब तो परिणाममें और भी निमलता बढती है। उसके भावोमे गभीरता, वचनमे समिति और चलनमे सावधानी और दयाकी दृष्टि होती है। घरसे अष्ट द्रव्यको सजोकर मदिरको जा सकता है, लेकिन शिथिलता आ जानेसे रूढि यही है कि सूखी द्रव्य घरसे ले जाते हैं और मदिरमे अष्ट द्रव्य तैयार कर लेते है। वहाँ सरलता और पवित्रतापूर्वक अष्ट द्रव्य तैयार हो जाते हैं। अत घरसे तैयार कर ले जानेकी प्रथा नही है, लेकिन किसीको घरमे तैयार करके ले जानेमे सुविधा हो और उसमे कोई तरहकी शिथिलता न हो तो घरसे भी द्रव्य बनाकर ले जा सकता है। मागम चलते समय उसका भाव चैतन्यताकी उत्सुकतासे भरा हुआ होता है।

पूजकका नवदेवताओंमें प्रथम जिनचैत्यालयका अभिवन्दन—मदिरकी शिखाके जब दर्शन होते हैं तब पूजार्थी नतमस्तक हो जाता है। यह उसकी जिनचैत्यालय पूजा है। नव देवताओंमे एक जिनचैत्य हैं तो जिन चैत्यालय भी देवता है। अहा देवता यहाँ भी हैं। वे ९ देवता इस प्रकार हैं—पाँच परमेष्ठी, ६ जिनचैत्य, ७ जिनचैत्यालय, ८ जिनागम और ९ जिनधम। इन सबकी पूजा अलग-अलग विधिसे है। साधुकी पूजा प्रतिमाके समान नही होती, प्रतिमाका अभिषेक होता है साधुओका नही। जिनप्रतिमा और जिन भगवान्की भी पूजा विधिमे समानता नही है। प्रतिमाका प्रक्षाल अभिषक होता है, अरहंतका नही। जिन चैत्यालयकी यही पूजा है कि उसे देख विनयके भाव हो, उसके आश्रमसे जिनप्रतिमा और उसकी पूजा है व चैत्यालयकी सुरक्षा है। पूजक अपने निर्मल भावोंमे ओतप्रोत वीतराग भगवान् और उनके स्वरूपका स्मरण करता हुआ मदिरकी तरफ बढता है। मागमे यदि कोई धर्मात्मा मिलते है, और धर्म सम्बन्धी कोई बात करना आवश्यक होती है तो सक्षेप मे भाषासमितिपूवक करके अपने लक्ष्यकी ओर जाता है। रास्तेमे कोई विषय कषायकी बात न करता है और न सुनता है।

जिनमदिरमें प्रवेश करनके समयके कर्तव्य—जिनालयके द्वारपर पहुचते ही निसहि, निसहि, निसहि का उच्चारण करता है। जिसका मतलब होता है कि हमारे जिनदर्शनमे जो आडे हों, बाधक हो वे दूर हो जावें। हमें जिनप्रभुका दर्शन करना है। यह सम्बोधन देवमनुष्योंके लिये है, अथवा भीतरके रागद्वेष आदि विकारोंके लिये भी लागू होता है कि इस समय रागद्वेष आदि भाव उपयोगसे दूर हो जावें और निमल चित्तम वीतरागता होने दें। यहा पूजक मानो रागद्वेषादि भावोपर दया करता है कि कहीं ये सूचना किये बिना मारे जानेपर क्लिष्ट न हों। पूजक विभावोंसे कहता है कि हे विभावो! तुम्हारी सेवामे हम २३ घंटे रहे, अब वीतराग प्रभुके मदिरमें जा रहे हैं वहां तुम्हारी दाल न गलेगी, बुरी तरह से मारे जाओगे। अत तुम अभीसे अपनी विदाई लो। निसहि, निसहि। अब आगन्तुक

नार्थीके लिये वहांपर स्थित भाइयोका कर्तव्य है कि दर्शन करनेका अवसर दे। लेकिन न करने वालेका भी कर्तव्य है कि वह दूसरोको भी कुछ भी बाधा न पहुंचाकर यथा सर यथायोग्य दर्शन पूजन करे, भीडको चीरते हुए चिल्ला चिल्लाकर अन्य दर्शनार्थियोंको रते हुए दर्शन पूजन करना ठीक नही। दूसरेके मनमे किसी भी तरहका विक्षोभ हो जाय, ना व्यवहार मंदिरमें कदापि न होना चाहिए।

एक कायोत्सर्गमें २७ श्वासोच्छ्वासमें नव बार णमोकार मंत्र जपनेका विधान-- पूजाके यथा स्थानमे पहुचकर यथाविधि स्थित हो जाता है। सामग्रीके साथ और सावधानीपूर्वक विवेक और अतरङ्गदृष्टिपूर्वक पूजा प्रारम्भ करता है। और सबसे पहिले ९ बार णमोकार मत्र पढता है, और कायोत्सर्ग करता है, जिसके फलस्वरूप शरीरादिमे रही सही ममता दूर हो जाय। १ णमोकार मत्रको श्वासोच्छ्वासमे पढना चाहिये। पहली श्वास णमो अरिहंताणं उच्छ्वासमे णमो सिद्धाणं दूसरी श्वासमे णमो आइरियाणं उच्छ्वासमें णमो उवज्झायाणं और तीसरी श्वासमे णमो लोए और उच्छ्वासमे सव्व साहूणं । इस तरहसे एक णमोकार मंत्रको ३ श्वासोच्छ्वासोमे, और ९ बार णमोकार मत्रको २७ श्वासोच्छ्वासमें होते।

क्योंकि पूजा कोई भी की जायेगी वह होगी, पचपरमेष्ठियोका सन्निधान हृदयमे कर लेंगे और बाहरके कामकी ममताका उत्सर्ग कर देंगे तो वास्तविक पूजा होनेकी क्षमता प्राप्त होगी। पूजकका ध्यान बाह्य द्रव्य या मूर्तिमे ही न उलझकर सीधा चैतन्यको स्पर्श करने लगेगा और फिर पूजनमे न केवल पुण्य बधा लेगा, अपितु सवर और निर्जरा भी बीच-बीच मे होनी चलेगी। पूजाके प्रारम्भमे कायोत्सर्ग करनेकी यही सार्थकता है।

ॐ की ध्वनिका भाव—कायोत्सर्ग कर चुकने पर भक्तके मुँहसे ओ३म् का उच्चारण होते हुये जय जय जयकी ध्वनि निकलती है। ओ३म् शब्द पचपरमेष्ठियोका प्रतिनिधि है और शब्दोका भी प्रतिनिधि है। तत्त्व ३ होते हैं—१ ज्ञानतत्त्व, २ शब्दतत्त्व और ३ अर्थतत्त्व। हर एक पदार्थमे ये तीन बातें आती हैं। जैसे पुस्तकके विषयमे लगाइये तो १ ज्ञानपुस्तक, २ शब्दपुस्तक और ३ अर्थपुस्तक। जैसे कि धवलग्रन्थकी पुस्तकका ज्ञान ज्ञानपुस्तक कहलाया। ग्रन्थका नाम बोलना या लिखना इसमे जो शब्द आये अथवा ग्रन्थ मे जो शब्दविन्यास है, वह अर्थपुस्तक है। और इसी तरह परमेष्ठी वा अरहत आदिमे तीनो बातें घटाना चाहिये। जैसे हमको अरहतके स्वरूपका ज्ञान हुआ, वह ज्ञान अरहत कहलाया। अरहतका वर्णन करनेवाला जो शब्दसमूह है वह शब्द अरहत और जो परम औदारिक शरीरमें स्थित अनतचतुष्टयमडित वीतराग सर्वज्ञ आत्मा है वह अर्थ अरहत है। ॐ तत्सत् पदमे ॐ शब्दसे शब्दका प्रतिनिधित्व होता है, तत् से ज्ञानका और सत् शब्द से अर्थका प्रतिनिधित्व होता है। ॐ से सब शब्द, तत् से सम्पूर्ण ज्ञान और सत् से सब पदार्थ गर्भित हो जाते हैं।

अक्षरोंकी प्रशस्ति—ॐ से सारे अक्षर बनते हैं। ज्ञानका वाची तत् है क्योंकि इस भावसे वस्तुका रूपक ज्ञान आता है। ॐ का उच्चारण करके यह अक्षरोंकी सभी गुण कीर्तिको एक ही साथ पूरी कहना चाहता है लेकिन भक्तकी यह चाह पूरी नहीं होती, क्या कि एक ही समयमे सम्पूर्ण अक्षरोका उच्चारण असभव है। उनका तो क्रम क्रमसे ही उच्चारण हो सकेगा। अक्षर सब ४७ हैं। स्वर और व्यजनोके बोलनेका क्रम है, वह क्रम प्रयोजनपूर्वक है। स्वन राजतीति स्वर अथवा स्वय राजन इति स्वरा। स्वतन्त्र रूपसे उच्चारण किये जाए वे स्वर हैं और जो अक्षरो की सहायतासे (व्यज्यन्ते इति व्यञ्जनम् की व्युत्पत्ति पूर्वक) बोले जाए वे अक्षर व्यञ्जन है। स्वरोंमे पहिले पहल अ आ का उच्चारण करते हैं क्योंकि इनका उच्चारण कण्ठसे है और कवर्गोंकी जननी कठ है। इनका उच्चारण उनके बादमे है क्योंकि कठके बाद कठके सामने रहनेवाले तालुका नवर रहता। इसके पश्चात् तालुके समीप बाहर रहने वाले ओष्ठ का स्थान है, जिससे उ ऊ की ध्वनि होती है। उसके बाद ऊपर मूर्धाका स्थान है। अत मूर्धासे बोला जाने वाला ऋ आता है और मू का द्व

[illegible]ान है, जिनका नम्बर मूर्धके बाद आता है। इसी तरह अ इ मिलकर ए बनने के [illegible] ए ऐ का कंठ तालु और अ उ मिलकर ओ बनने के कारण ओ औ का कंठओष्ठ [illegible]ान है, जिनका क्रमिक विन्यास उनके उच्चारण स्थानका उच्चारणकी शैलीके अनुसार । इसी तरह क वर्ग और च वर्ग आदि व्यंजनाक्षरोंका भी कंठ और तालु आदि स्थानोके [illegible] अक्षरोंके विन्यासका भी क्रम रखा गया है।

शब्दब्रह्मकी उपयोगिता व महत्ता—वर्णों का इसलिये खुलासा किया जा रहा है [illegible] वर्णोंसे बनने वाले शब्दोंका महत्त्व भी महान है, इसीलिये शब्दको ब्रह्म भी कहते है और यहां तक कहा गया है कि शब्दसे अर्थकी प्रतीति होती है, अर्थसे तावार्थका बोध होता है, तत्त्वार्थका बोध होनेसे परमार्थकी प्रवृत्ति होती है और परमार्थकी प्रवृत्ति होने से आत्माकी सिद्धि अर्थात् आत्मसिद्धि होती है। शब्दका आत्मसिद्धिके लिये परंपरया ऐसा [illegible] सम्बन्ध बन गया है। यह बात तो नही है कि यह सम्बन्ध अविनाभावी हो, फिर भी किसीके लिये निमित्त रूप हो तो परम्परा मोक्षका बाह्य निमित्तमात्र औपचारिक कारण कहा है, ऐसा कहने मे कोई अनिष्ट प्रसंग नही आता। मोक्षप्राप्तिके लिये मूल कारण सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन पैदा होनेमे ५ लब्धियोंका होना आवश्यक है। जिससे एक देशना लब्धि है अर्थात् गुरुका उपदेश मिले बिना सम्यग्दर्शन नही हो सकता। उपदेश शब्दा-[illegible] है। इस तरह भी शब्द मोक्ष मार्गका साधक है। शब्दकी शक्ति महान् है। [illegible] कुछ बोलने लगता है वह सब बोलना उसका जादू और [illegible] है। यह बोलने और सुनने वालेके लिये कर्मपटलको भेद अंतस्तत्वमे [illegible] निमित्त होता है।

ॐ शब्दकी परमेष्ठिवाचकता—भक्तका सर्वप्रथम शब्द जो ओम् निकलता है उसकी भी अपनी विशेषता है। ओममें पाचों परमेष्ठी गर्भित हैं। पाँचों परमेष्ठियोंके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— १ अरहंत, २ अशरीर, ३ आचार्य, ४ उपाध्याय और ५ मुनि। इन पाचों परमेष्ठी वाचक शब्दोंके आदिके अक्षर लेकर ओम् शब्द बना है। अरहंत और अशरीरका अ मिलकर दीर्घ 'आ' बना, आचार्यका 'आ' भी उसमें मिलाकर दीर्घ आ' हुआ, उपाध्याय का उ मिलकर 'ओ' बना और मुनिका 'म' मिलकर ओम् बना। उस ओम् सरगमके षड् स्वर धीरे धीरे बोलो तो शरीरके रोम खड़े हो जाते हैं। उसके तथा दुनियाका ख्याल भूल जाता है और शरीरकी चचलता भी जाती रहती है। इस ओ को कुल मतवाले जानते हैं। परमेष्ठी अर्थके और भी अनेक अर्थ अन्तर्निहित हैं।

ॐ शब्दकी तत्त्वस्वीकारवाचकता, देवशास्त्रगुरुवाचकता व रत्नत्रयवाचकता—ओम् का अर्थ हाँ या स्वीकार भी होता है। स्वीकारका मतलब है उस बातको स्व—आत्मरूप करना, परवस्तु आत्मरूप तो क्या होगी लेकिन आत्माकी इष्ट उस वस्तु ज्ञानसे सहमति होना ही आत्माकार करनेका मतलब है। ओमका अर्थ देव गुरु शास्त्र भी होता है। देव गुरु शास्त्रके वाचक शब्द क्रमशः १ आप्त, २ उक्ति और मुनि आदि अक्षर हैं, जिनके मिलने से ओम् बना। और शब्दसे रत्नम अर्थ भी निकलता है। क्रमसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके द्योतक शब्द १ अवलोकन, २ उद्योतन और ३ मौन हैं। शुद्ध आत्मतत्त्वके अवलोकनको सम्यग्दर्शन और तत्वोंके ज्ञानको उद्योत कहते हैं तथा यहाँ मौनका मतलब है मुनेर्भाव मौन। मुनिका स्व आचरण भाव। इन तीनों शब्दोंके आदि अक्षर मिलकर भी ओम् बन जाता है।

ॐ शब्दकी उत्पादव्ययध्रौव्यवाचकता व मोक्षमार्गसूचकता—यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका वाचक भी है। व्ययको अत्यय भी कहते हैं, तो अत्यय और उत्पादके आदि अक्षर मिलकर ओ बना और ध्रौव्यको मध्य भी कह सकते हैं क्योंकि अत्यय और उत्पाद होकर भी ध्रौव्य तो दोनों हालतमें मध्यम रूपसे रहता ही है। अतः वह मध्य कहलाया। तब मध्यका आदि अक्षर म ओ में मिलनेसे ओम् बन गया। यह तीनों लोकोंका भी वाची है, अत ऊर्ध्व और मध्य लोक वाची शब्दोंके आदि अक्षरोंसे ओम् बन जायगा। ओम्के आकारपर विचार करें तो उसके ५ खड, मोक्षमार्ग का मोक्षसूचक हैं गुड्डेगेवाला अथवा ३ का जैसा भाग व्यवहारको कहता है क्योंकि व्यवहार विडम्बना या अस्थिर व नाना प्रकारका है। शून्य निरवयवका है, क्योंकि उसका विषय आदि मध्य और अत रहितके दराकार दोनों नयोंकी निरपक्षताको हटाकर मिलानेवाला प्रमाणरूप है। ऊपरका चन्द्रकला मन अनुभव वसाको बतानेवाला है, फिर सबसे ऊपर शून्यका मतलब स्वरूपकी प्राप्तिका है जहाँ राग

द्वेष मोह आदि सर्व विभावोंकी शून्यता है।

ॐ शब्दकी ज्ञानविधिवाचकता—ओम् यह पांचो ज्ञानोंको गर्भित करनेवाला सर्व-विमुक्तज्ञानका प्रतीक है। यथा आभिनिवोधिक ज्ञान, आगमज्ञान, अवधिज्ञान अन्त:करण पर्यज्ञान व उत्कृष्टज्ञान—इन पांचो ज्ञानोंका आदिम अक्षर रखकर परस्पर प्रारंभसे अन्त तक मिलानेपर ओ बना तथा ऊपर जो ० है वह सामान्य ज्ञान वाचक है जिसका न आदि है, न मध्य है, न अन्त है। सब पर्यायोमे रहता हुआ भी किसी पर्यायमात्र नही है, ज्ञानकी सर्व अवस्थाओमे नहीं पड़ा है। सर्व अवस्थाओमे उत्कृष्ट अवस्था केवलज्ञान है। यह उत्कृष्ट ज्ञान सामान्यज्ञानको कारणरूपसे उपादान करके स्वयं परिणमता है। इसके अर्थ हमारा ध्यान यह होना चाहिये कि जिसको उपादान करके प्रकट होता है उस सामान्य स्वभावके सम्मुख होकर सामान्यदृष्टि दृढ बनावे।

अनुरागका द्योतक होता है। उस महान् आत्मा या परमात्माकी जय हो चुकी, फिर भी अनुरागवश इन शब्दोंका उच्चारण होता है। उस जय जयके उच्चारणमें बोलने वालेकी जय भी साधक है। जब वह परमेष्ठीरूप अपनी आत्माका अनुभव करता है तब उसके स्वयं चैतन्य स्वरूपकी एकताका प्रतिभास होता है और वह पूर्ण शुद्धरूप प्रगट होने वाला है, यह उसके लिये जय का मतलब है।

द्विविध नमस्कार—नमस्कार दो तरहसे होता है—(१) द्रव्यनमस्कार और (२) भावनमस्कार। हाथ जोड़ शिरोनति करना द्रव्यनमस्कार है और बाह्य कोई क्रिया न करके अपने भाव (पूज्यमें) लगाना भावनमस्कार है। भावनमस्कार दो प्रकारका है—१ द्वैत, और २ अद्वैत। परमेष्ठी के गुणचिन्तन आदिसे आदर करना द्वैतनमस्कार है और जब पूज्य और पूजकमें चैतन्यस्वरूपका मिलान होते होते भाव पूज्य पूजक भाव्य भावक की कल्पनासे रहित हो जाता है, पूज्य और पूजकमें एकतानता प्रगट हो जाती है, ज्ञाता द्रष्टापन केवल प्रतिभासित हो जाता है वह अद्वैतभाव नमस्कार है। पहले तो पूजक अपने स्वभाव का पूज्य परमेष्ठीसे मिलान करता था। लेकिन ये सब कल्पनाएं जहां विलय हो गईं वहां एक अद्वैतता ही रह जाती है और वही अद्वैत नमस्कार है।

पञ्च परमपदकी भक्तिकी उपयोगिता—उत्कृष्ट स्थितिको प्राप्त करने में ५ चीजें आती हैं— १—अरहंत, २—सिद्ध, ३—आचार्य, ४—उपाध्याय, ५—साधु। जिन्ह संसारके दुःखोंसे भय हो गया, परको पर समझ लिया, स्वको स्व जान लिया, अपनेको ज्ञाता द्रष्टा समझ लिया, मैं स्वयं अपने आपमें ठहरा हुआ हूं ऐसी जिनकी भावना हो गई ऐसे महान साधक गुरु कहलाते हैं। उनमें ही जो द्वादशांग विद्याके अधिकारी विद्वान् हैं, निरन्तर पठन-पाठनमें रत रहते हैं और आचार्यसे जिन्हें यह पद मिला है वे उपाध्याय हैं। उन साधक पुरुषोंकी गोष्ठीका जो नायक है, वह आचार्य है तथा आचार्य और उपाध्यायके विशेष पदसे रहित जो सामान्य गुरु दशा वाले निर्ग्रन्थ साधक हैं वे साधु परमेष्ठी हैं। इनमें से जो साधनाके बलपर विशेष पद पूर्ण वीतरागताको प्राप्त कर लेते हैं वे अरहंत कहलाते हैं। क्योंकि वे ४ महान कर्म शत्रुओंको हनन करके परास्त करके यह पद पाते हैं। वही अरहंत जब शरीररहित हो जाते हैं, शेष अघातिया ४ कर्म भी जिनके नष्ट होकर सिद्धालयमें विराजमान होते हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। मोक्षमार्गमें ये ५ पद हैं। इनकी वास्तविकता वैज्ञानिक और स्वाभाविक है। इनमें कल्पनाके लिये स्थान रंचमात्र नहीं है। इन पांच परमेष्ठियोंके वाचक जो पद हैं जिनमें णमो शब्द नमस्कारसूचक आदेश पदके साथ है वह णमोकार मंत्र या नमस्कार मंत्र है, जो इसी प्रकार है। णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं। णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।

[illegible] नाता तोड़नेकी कोशिश करते है, राग बढानेको प्रोत्साहित करते है। होना तो यह [illegible] पति पत्नी, पिता पुत्र, भाई भाई आपसमे एक दूसरेको ऐसी सलाह दे कि जिससे [illegible] धर्मकी तरफ विशेष प्रवृत्ति हो। घरमे कोई बीमार हो तो धर्म बुद्धिसे [illegible] न वैयावृत्ति करनी चाहिये। शरीर की ग्लानि नाक भौ न सिकोडे, गन्दे शरीरके भीतर भी आत्माको निरखे कि इस मलीन देहमे, आत्मदेव विराजमान है जो [illegible] पुञ्ज है। आत्माकी विकारी अवस्थापर भी ऐसा ध्यान न [illegible] विचारे कि अमुक व्यक्तिने ऐसा पाप किया था। जीवके भाव हमेशा [illegible]। जो कभी खराब था वह पीछे अच्छा भी हो सकता है। कथा और [illegible] मिलेगे कि उन्होने जीवनका बहुभाग दुर्व्यसनोमे विताया,

सोचो कि फलानेने ऐसा पाप किया था, वह पुण्यात्मा या धर्मात्मा कैसे बनेगा ? या अपने बारेमें ऐसा मत विचारो मैंने यह पाप किया है अब मैं पुण्यात्मा या धर्मात्मा नहीं बन सकता। जिस क्षणमें पाप छोड़ दिया जाता है उसी क्षणमें आत्मा पुण्यात्मा बन जाता है। और यदि रत्नत्रयका उदय हो गया तो धर्मात्मा भी बन जाता है।

नमस्कारमंत्रके जापकी विधि—नमस्कारमंत्रके जपनेके लिये पहिले पंच परमेष्ठियों का स्वरूप जानकर हृदयमें अच्छी तरह अंकित कर लेना चाहिये, और मंत्रमें जिस पदको बोले उनके अर्थ और परमेष्ठीके स्वरूपको विचारता जाय। मंत्रकी जाप्य कितनी संख्यामें हो, कितने समय तक हो, इसका ख्याल न रखे और उसे अधिकसे अधिक एकाग्रता तथा निर्मलतापूर्वक जपता रहे। इस शैलीसे मंत्रजाप्य द्वारा एक अपूर्व आनन्द आवेगा और आगे आगे विशेष दृढ़ता होती जायगी। तब जल्दी खतम करने की चित्त आकुल न होगा। इस शैलीमें यह जरूरी नहीं कि १०८ बार ही मंत्र जपना चाहिये, गिनतीपर ध्यान जाने से हृदय उतना गहरा नहीं पहुंच जाता और एकाग्रता भी उतनी नहीं हो पाती। लेकिन जिनके चित्त अधिक चंचल होते हैं, उनके लिये १०८ बार जपने की बात ठीक है। नहीं तो वे १०-१२ बार ही जपकर उठ जाएं। दूसरी रीति मंत्र जाप्यकी यह है कि हृदयमें आठ पांखुड़ी वाला कमल विचार और उसके बीचमें उसकी कर्णिका। प्रत्येक पांखुड़ी वाला और कर्णिकामें १२, १२ बिन्दु विचार, फिर एक एक पांखुड़ीके एक एक बिन्दुपर मंत्र बोलता जाय, इस तरह १०८ मंत्रकी जाप हो जायगी। इससे भी सरल रीति यह है कि हृदय कमल पर कल्पित मानके आठ पांखुड़ी और एक बीचमें कर्णिका कमल पर क्रमसे उन ९ स्थानोंमें एक मंत्र बोलता जाय और दाहिने हाथकी अंगुलीके पोर पर पूरा करे १२ बार होने पर १०८ मंत्रकी जाप्य हो जायगी। इससे भी सरल उपाय है कि दाहिने हाथकी अंगुलियोंके १२ पोरोंपर क्रमसे मंत्र बोलता जाय और १२ पोरे पर बार पूरा पर बायें हाथके १ पोरा पर अंगुली रखे इस तरह ९ बार करने पर १०८ मंत्रका जाप्य हो जायगा। और यह भी न बने तो १० दाने की माला ले ले और एक एक दानेपर मंत्र बोलता जाय तो १०८ मंत्र की जाप्य हो जायगी।

अपवित्र पवित्रो वा सर्वावस्था गतोऽपि वा।
य स्मरेत्परमात्मान स बाह्याभ्यन्तर शुचि ॥

नमस्कार मंत्रका स्मरण करनेवालेकी बाह्य व आभ्यन्तर दोनों रूपोंमें पवित्रता— बाह्यमें अपवित्र या पवित्र किसी भी दशामें हो किन्तु परमात्माका स्मरण करे तो बाह्य और आभ्यन्तरमें पवित्र हो जाता है। मुनिका रत्नत्रयसे पवित्र शरीर भी [illegible] पवित्रता से पवित्र हो कहलाता है जबकि [illegible] और कषायों [illegible] [illegible] मंत्र स्मरण

कदाचित् आराधकके सहायक होते है।

एमो पंच णमोयारो.सव्व पावप्प णासणो।
मंगलाण च सव्वेसिं पढम हवइ मंगलं॥

पञ्चनमस्कार मंत्रकी सर्वपापप्रणाशकता—यह पच नमस्कार मंत्र सब पापोंका नाश करने वाला है और मागलादिक सब वस्तुओमे प्रधान मंगल है। जिन्होने अपने चैतन्य देवताको प्राप्त कर लिया अथवा उसको प्राप्त करनेमे लगे हुए है ऐसे अरहत सिद्ध और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी की आराधनासे हम अपने चैतन्यदेवको ही पूजते है, चैतन्य भावोको ही पूजते है, और इससे सम्पूर्ण पापोका नाश हो जाता है। इन परमेष्ठियोका ध्यान और दर्शन करते समय अपने चैतन्यदेव कारण अवलोकनका ध्यान अवश्य करना चाहिये। अथवा परमेष्ठियोके स्मरण अवलोकनमे अपने चैतन्यदेवका स्मरण हो जाता है।

उद्यम और उसके फलमें भरपूर रह अथवा आत्मा नानानन्दसे परिपूर्ण है, बीचमें कहीं भी वह खाली नहीं है, ऐसा निजस्वरूपका बोध करानेके लिए कलश दृष्टान्त बना है। कन्याको मंगल कहा, वह इसलिए कि वह गृहस्थीके पापोंसे रहित निर्विकार है, तो आत्माकी निर्विकारताकी दृष्टान्तता इसमें भी है। इसी तरह दही हल्दी आदि आत्माके शुभ भावोंके द्योतक होनेसे मंगल रूप माने गये हैं। मतलब यह कि सम्पूर्ण मांगलिक पदार्थोंकी मंगलसूचकता आत्माके शुभ भावोंके प्रतीक रूपमें है। अतः मांगलिक वस्तुओंमें परमेष्ठी आद्य मंगल है। वे हमारे स्वरूपके उद्बोधनमें उत्तम साधन रूप हैं। कहा भी है – जो जाणदि अरहंत दव्वेदि गुणेहिं पज्जयत्तेहिं। सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्सलयं॥ अर्थात् जो आत्माको द्रव्य गुण पर्यायरूपसे जानता है वह अपनी आत्माको जानता है, और ऐसे ज्ञानीके मोह लय हो जाते हैं। अतः परमेष्ठीका ध्यान अर्चन कराना करना श्रेयस्कर है।

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म वाचकं परमेष्ठिनः।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणमाम्यहम्॥
कर्माष्टकविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीनिकेतनम्।
सम्यक्त्वादिगुणोपेतं सिद्धचक्रं नमाम्यहम्॥

सिद्धसमूहके सद्बीन और परमेष्ठिवाचक अर्हं मंत्रका प्रणमन—अर्हम्—यह शब्द ब्रह्म–परमात्मा, परमेष्ठीका वाचक है। सिद्धसमूह अथवा सिद्धभावोंका उत्तम बीज है। अतः इसे मैं मन वचन कायकी सावधानी पूर्वक नमस्कार करता हूं। यह सिद्धचक्र कैसा है? सो कहते हैं—सम्पूर्ण सिद्ध भगवान अष्टकर्मोंसे रहित मोक्षलक्ष्मीके निवास स्थान सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंसे परिपूर्ण हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूं। सिद्धोंको इस नमस्कार विधिसे हमें अपना ध्यान सामान्य चेतनाकी अनुभूति तक पहुंचाना चाहिये। पूज्य पुरुषोंकी आराधनासे हमें यह काम निकाल लेना चाहिये। जिन आत्माओंने अपनेको निर्मल किया है उनके अवलम्बनसे हमारा काम सरलतासे बनता है, वहां तो पर पदार्थोंको आश्रय कर पुनः उसके आधारभूत स्वभावकी दृष्टि कर तो भी निर्मलता आ सकती है, क्योंकि निर्मलता होती तो हममें ही है और हमारेमें से होती है। इस प्रकार यदि अन्य चेतन या अचेतन द्रव्यको भी मूलदृष्टिसे विचारें तो वहां भी पहिले पर्याय तो ज्ञानमें आता है, किन्तु पश्चात् पर्यायदृष्टिसे हटकर द्रव्यदृष्टि होती है। पश्चात् आकारतर सत्की भी दृष्टि छूटकर महासत्प्रतिभास होता है। तब महासत्की अनुभूति किसी अपना आलम्बन न रहनेके कारण निजानुभूतिरूप होती है। तब वहां निर्मलताका विकास स्वयं होता है, उस निर्मलता में जो पदार्थ उस समयमें पूर्व किसी भावके निमित्तरूप होते हैं उनको निमित्त कारणता प्राप्त हो जाती है ऐसा उपचार होता है, और ऐसी निमित्तता पर पदार्थमें बन सकती है।

वातावरण, सब गाय या वनवासी पशु देखते है तब उनके भाव भी भगवानकी वंदनाके होते है, परिणामोंमे अत्यन्त निर्मलता आ जाती है, वैयकको जातिका स्मरण हो जाता है। [illegible] निर्धन और मनुष्य अपने बीचमे व्यवहारकी खाई को भूल जाते है। और समवशरण भी ग्राम, नगरोंसे दूर वन, उपवन, बाग बगीचोमे होता है। जहाँका वातावरण शान्त [illegible] होता है, जहाँ हर एक मनुष्यको पहुँचनेकी पूरी सुविधा है। आपसमे वैर विरोध तो होता ही नही। अब भगवानकी सभामे शेर वगैरा का पहुँचना अस्वाभाविक नही है। समवशरणका वातावरण इतना पवित्र और सब जीवोके कल्याणका स्थान होता है कि [illegible] जिसे शरण प्राप्त होती है। सम् अर्थात् सम्यक् प्रकारसे अव समन्तात्—सब [illegible] सब जीवोंमें, सब गति और जातिके जीवोंमे से आये हुए जीवोको जहाँ शरण [illegible] इसे ही समवशरण कहते है। ऐसा समवशरण तीर्थंकरका ही होता है। दूसरे [illegible] भी नही होता, और यहाँ तक कि सामान्य केवलियोके भी तीर्थंकरके [illegible] नही होती। फिर भी सामान्य केवलीके निकट सब तरहके [illegible] सुननेका अवसर दिव्यध्वनिसे प्राप्त होता ही है।

है। यद्यपि इन अर्थोंकी अपेक्षावोंमें ज्ञान दर्शन भाव सुखसे उत्कृष्ट है तथापि लौकिक जनोंमें सुखकी ख्याति है, अतः आनन्द्‌का नाम भी मुख्य रूढ हो गया। ये अनन्त चतुष्टय मुख्यता की अपेक्षासे कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त और भगवान्‌में क्या क्या गुण कहे जायें? वे अनंत गुणोंके स्वामी हैं। जिनकी पूजा सुकृतकी एक ही प्रधानरूपसे कारणरूप है, मैं ऐसे जिनेन्द्रदेवकी पूजा शुरू करता हूं।

स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुङ्गवाय,
स्वस्ति स्वभावमहिमोदय सुस्थिताय।
स्वस्ति प्रकाशसहजोर्जितदृग्ममयाय,
स्वस्ति प्रसन्नललिताद्भुतवैभवाय॥

त्रिलोकगुरु जिनश्रेष्ठ प्रभुको नमस्कार—तीन लोकके गुरु, जिनोंमें भी पुङ्गव (महान्) स्वभावकी महिमाका जिनको उदय (प्रकाश) हो गया है अतएव उत्तमपदमें स्थित स्वाभाविक ज्ञान दर्शनसे प्रकाशमान तथा नन्दित और विलक्षण वैभवसे प्रसन्न (निर्मल) जिनेन्द्र देव मेरे लिये कल्याणरूप हों, या स्वस्तिका अर्थ नमस्कार भी होनेसे ऐसे जिनेन्द्रदेवको मैं नमस्कार करता हूं, ऐसा भी अर्थ हो सकता है। इस श्लोकमें जिनेन्द्रका जो विशेषण दिये गये हैं वे निश्चयतः स्वात्माके ही हैं, आत्मा स्वभावतः स्वयं गुरु है, तीनों लोकोंके सारे जड़ पदार्थ तो इसके गुरुपनेसे रहित हैं, अथवा और अनन्त सब आत्माएँ किसी एककी आत्माका गुरु नहीं है, तीनों लोकोंमें प्रत्येक आत्मा अपना गुरु है, अतएव प्रत्येक आत्मा तीनों लोकोंमें वही स्वयं अपने लिये गुरु है और विकारोंपर विजय पानेसे हमारी आत्मा ही जिन है। अतः वह पुङ्गव है—पुङ्गवका अर्थ श्रेष्ठ है, इसका ही बिगड़ा हुआ रूप पुङ्गा है। अन्य भाषावोंमें भी पूर्ण योग्य महत्त्ववाला शब्द बहुत रूढ़ीरूप इसलिये पड़ जाता है कि उसका उस स्वीकार नहीं करती। जिससे कमजोर व्यक्ति उपहास समझने लगता है। लोकमें प्रसिद्ध गालीके शब्द प्रायः ऐसे ही हैं जिनका कि अर्थ महत्त्वपूर्ण है। लोग उनका अर्थ न जानकर भले ही क्षोभमें आवें परन्तु अर्थ समझें तब क्षोभकी कोई बात नहीं। यहाँ पुङ्गवका अर्थ विशेष श्रेष्ठ है। श्रीमान् भगवान् जिनेन्द्र पुङ्गव हैं। जिनका अर्थ सम्यग्दृष्टि, व्रती, यती और स्नातक है। दर्शनमोहके विजयी होनेसे जिन संज्ञा चतुर्थ गुणस्थानसे हो जाती है और क्रमसे अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण संज्वलन कषायके अभावसे उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण जिन संज्ञा होती जाती है। स्नातक देव तो प्रकट पूर्ण हैं उनमें प्रधान श्रीमान् जिनेन्द्रदेवाधिदेवकी महिमा के उदयसे सुस्थित हैं और आत्माके स्वाभाविक ज्ञान दर्शनके प्रकाशसे प्रकाशमान हैं। आत्माएँ ललित और अद्भुत नानाविध वैभव सदा विद्यमान है। ऐसे वैभव गुणोंसे परिपूर्ण आत्माको जो निरंजन परब्रह्मरूप और स्वरूपसे आनन्दरूप है, उनके लिए नमस्कार करके

[illegible] धन, मकान आदि सर्व पुण्य वैभव आदिको भी मैं त्यागता हू, क्योकि सर्वसे प्रथम अपनी आत्मामें ही परमात्माका भक्त हुआ है। पुन प्रश्न हुआ कि सर्व वैभव भी तो अत्यन्ताभाव वाले भिन्न क्षेत्रवर्ती अचेतन पदार्थ हैं वे तो पहलेसे ही छूटे हुए है, उनको त्यागनेकी बात करना [illegible] गंगाकी कहावतको याद दिलाना मात्र है। तब भक्तकी निर्मलता की दृष्टिने उत्तर दिया कि जिस पुण्यके उदयसे वैभव मिलता है उस मूलका भी मै स्वाहा करता हूं। इतने पर भी वही प्रश्न हो सकता है, क्योकि एक क्षेत्रावगाह होकर भी ये कर्म हैं तो अत्यन्ताभाव वाले पुद्गलपिंड। तब भावव्यक्ति होती है कि प्रभो! जिस मंदकषाय [illegible] निमित्तसे द्रव्य पुण्यबन्ध होता है मैं उस चेतन पुण्यको त्यागता हूं। इसमें [illegible] उपवान आदिसे लेकर अर्हद्भक्ति तक सभी सम्मिलित है।

हो जाती है, लेकिन अभी तक यह स्थिति नही पा सके । इसका कारण ही यह है कि हमने निष्काम भावसे पूजा नही की । अब इस जन्ममे कमसे कम कुछ समय तो ऐसी पूजा करनी चाहिये अभ्यास इसका जीवनभर होता रहे । इसही बीच वह समय भी आता रहेगा और अतमे आराधक कभी न कभी प्रसग पाकर समाधिमे लीन होता हुआ सहज मुक्तका अधिकारी बन जायेगा । अब प्रस्तावनाम २४ तीर्थंकरोका स्वस्ति पाठ इस प्रकार है —

श्री वृषभा न स्वस्ति श्री अजित, श्री सभव स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअभिनन्दन, श्री सुमति स्वस्ति, श्रीपद्मप्रभ स्वस्ति स्वस्ति श्रीचन्द्रप्रभ, श्रीपुष्पदन्त स्वस्ति श्रीशीतल, श्री श्रेयांस्स्वस्ति, स्वस्ति श्रीवासुपूज्य, श्री विमल स्वस्ति, स्वस्ति श्री अनन्त, श्रीधर्म स्वस्ति, स्वस्ति श्री शाति, श्रीकुन्थु स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअरहनाथ, श्रीमल्लि स्वस्ति, स्वस्ति श्री मुनिसुव्रत श्रीनमि स्वस्ति, स्वस्ति श्री नमिनाथ श्री पार्श्वो स्वस्ति श्रीवर्धमान ॥

श्रीवृषभ, अजित, सभव व अभिनन्दन जिनेन्द्रदेवका स्वस्तिवाचन—वृष या वृषभ धर्मको कहते हैं, श्री लक्ष्मीको कहते हैं, और ऋषभ नामके प्रथम तीर्थंकर हो गये हैं । सो अरहत या वतमानमे सिद्ध पदको प्राप्त तीथकर पक्षमे तो ज्ञान आदि लक्ष्मीस पूर्ण ऋषभनाथ तीर्थंकर हमारे लिए कल्याणरूप हो, यह अथ होगा और निश्चयम नाम परिपूर्ण आत्मस्वभावरूप धर्म या धर्मसे विशिष्टधर्मी स्वय हमारे लिये कल्याणरूप हो, यह अथ हुआ । आगे भी इसी तरह एक तीथकर नाम पक्षमे और दूसरा अर्थ निश्चयम आत्म पक्षमे लगाना चाहिय । यथा स्वस्ति अजित श्रीविविक्तअजितनाथ तीर्थंकर हमार लिय कल्याण रूप हो । अथवा अजित मान जो दूसर पदार्थोंसे पराजित नहीं किया जा सकता, ऐसा शुद्ध चैतन्य स्वभाव हमारे लिये कल्याणरूप हो । तृतीय श्री सभवनाथ तीर्थंकर कल्याणरूप हो । अथवा सम्यक प्रकारसे उत्पन्न होनेवाला नियमित रूपसे ध्रौव्यपूर्वक क्रमके साथ उत्पन्न करने वाला चेतन परमातिशान नाथ (आत्मा) कल्याण रूप हो । अथवा सभव ससार दु:खका रूपी रोगके नाशक नाथ तीथङ्कर हमारे लिये कल्याण रूप हो । चतुर्थ श्री अभिनन्दन नाथ तीथङ्कर हमारे लिये कल्याण रूप हो अथवा अभि समन्तात् सब तरफसे नन्दीति सदा समृद्ध शांति रहे, आनन्दित रहे । ऐसा आत्मा (क्योंकि आत्मा आनन्द रूप है) कल्याण रूप हो ।

श्री सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस व वासुपूज्य जिनेन्द्रदेवका स्वस्तिवाचन—श्री सुमतिनाथ भगवान् कल्याण रूप हों । अथवा सु-उत्तम मति-बुद्धि-ज्ञान केवल ज्ञान विशिष्ट नाथ और पूर्ण सुमति प्राप्त करनेका अधिकारी यह सुमति नाथ आत्मा कल्याण रूप हो । श्रीपद्मप्रभ भगवान कल्याण रूप हो । अथवा पद्म-कमल-हृदय कमलमे प्रभ अर्थात् प्रकर्ष रूपसे शोभायमान ज्ञान मूर्ति-अनुभवन [illegible]

आत्मदेव कल्याण रूप हो। सुपार्श्वनाथ भगवान कल्याण रूप हो। अथवा सुसुष्ठु प्रकारेण पार्श्व-निकटता है जिसकी ऐसा आत्मा कल्याण रूप हो। श्री चन्द्रप्रभ भगवान कल्याण रूप हो अथवा चन्द्रमाके समान प्रभावान शांति श्री चन्द्रप्रभ भगवान कल्याण रूप हो। श्रीपुष्पदन्त भगवान कल्याण रूप हो। अथवा पुष्प– प्रकाशमान और दंत (दांत –दमन शील) स्वभावमें निरत आत्मा कल्याणरूप हो। श्री शीतलनाथ भगवान कल्याण रूप हों। अथवा शीतल ज्ञानस्वरूप आत्मा कल्याण रूप हो, शीतंलाति शीतल. श्रीश्रेयांसनाथ भगवान कल्याण रूप हो, अथवा श्रेयांसनाथ कल्याण रूप स्वयं आत्मा कल्याणकर हो। श्री वासुपूज्य भगवान कल्याण रूप हो। अथवा इन्द्रोके द्वारा व इन्द्र पूज्यो द्वारा पूज्य आत्मा कल्याण रूप हो।

स्वरूप स्वआत्माके ही अनुरूप है, तब यदि आत्माको न जाना तो परमात्माको क्या जानेगा ? अत वास्तविक पूजक आत्मज्ञानी और आत्मपूजक है, और ऐसे ही पूजककी पूजा सार्थक है मोक्षसाधिका है, अन्यथा सब क्रियाएं व्यवहार मात्र लोक व्यवहार साधिका है, अधिक कुछ नही। अब २४ तीर्थंकरोंका स्वस्तिवाचन करनेके बाद अब साधुओंका स्वस्तिवाचन करते हैं।

नित्याप्रकम्पाद्भुत केवलौघा, स्फुरन् मन पर्ययशुद्धबोधा।
दिव्यावधिज्ञानबलप्रबोधा स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो न।

कषायविजय व इन्द्रियविजय—साधु ५ तरहके कहलाते हैं— १ पुलाक, २ बकुश, ३ कुशील, ४ निर्ग्रन्थ और ५ स्नातक। केवली भगवानको स्नातक साधु कहते हैं। केवलज्ञान स्वभावपर्याय है। यह पर्याय इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करने एव कषायके अत्यंत अभाव करनेपर होती है। जो आत्मजयी है वही विश्वविजयी होता है। इन्द्रियोंको जीतनेका उपाय क्या है ? सो कहते हैं— इन्द्रिय विषयोंमें तीन बातें विचारणीय हैं—

१—द्रव्येन्द्रिय, २—भावेन्द्रिय और ३—विषय अर्थात् वे पदार्थ जो इन्द्रियोंके भोग उपभोगमें आते हैं। द्रव्येन्द्रिय विषयसेवनकी साधना है भावेन्द्रियां उपभोगरूप हैं, इच्छा या विषयसेवनका अनुभव करने वाली हैं और विषय वे पदार्थ हैं जो व्यवहार दृष्टिसे भोगे जाते हैं, अवलम्बनरूप हैं। इन तीनोंपर विजय पानेके लिये क्या इन्द्रियोंको नष्ट भ्रष्ट कर दें या विषयभूत पदार्थोंको नष्टभ्रष्ट कर दें ? नहीं, ये उपाय इन्द्रिय-जयके व्यर्थ हैं। इनपर विजय पानेका एक ही उपाय है कि इन द्रव्येन्द्रियों और भावेन्द्रियोंसे अपनेको भिन्न देखो। भावेन्द्रियोंके रागसे भिन्न चैतन्यस्वभाव या स्वभावमय आत्माको भिन्न देखो। यही उनकी विजयका उपाय है। विषयोंपर भी विजय पानेका यही उपाय है। उनका बिगाड़ना या तोड़ने से उनपर विजय न होगी, बल्कि भीतरके विकार बने रहनेसे कोई पदार्थ द्वेष करेगा तो कोई राग करने लग जायेगा। इन्द्रियोंके भी तोड़ फोड़में यही बात है। आंख फोड़ लेनेसे क्या होता है, यदि भीतर उनके द्वारा विषयसेवनके, सुन्दर पदार्थोंके अवलोकनके भाव बने हुए हैं। तो इसी तरह दूसरी इन्द्रियोंके भी बिगाड़ लेने पर उनके द्वारा भोगे जानेकी इच्छाओंका अभाव नहीं होता। और वे इच्छाएं भावेन्द्रियां भी तब तक आत्माका पीछा नहीं छोड़ सकतीं जब तक कि उनकी निस्सारता न जान ली जाय और उनकी निस्सारता तब तक ध्यानमें नहीं बैठ सकती जब तक कि इच्छाओंको भुलाकर आत्माको न जान जाय जो स्वभावसे इच्छारहित है। इच्छा आदि विकारोंसे भिन्न आत्माके शुद्ध स्वरूपका न पहिचान लिया जाय तब तक इच्छा कैसे दूर होगी ? आत्मतत्त्वको न जाना समझा जाय तो इसके महत्त्वसे अनभिज्ञ होकर बाह्य पदार्थोंको ही महत्त्वकी दृष्टिसे देखेगा। और जब

बहिर्वर्ती दृष्टि वाले पदार्थोंमें होगी तो रुचि वहाँ ही रहेगी, उनकी ही इच्छाएं तरह तरहकी पैदा होंगी। अतः इस तरहका अनुभव हो जाना जरूरी है कि आत्मस्वभाव परवस्तुओंसे भिन्न है। और यही क्यों अपूर्ण मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि और पूर्ण केवलज्ञान भी जीवकी पर्यायरूप दशा है, अध्रुव है। केवलज्ञान भी सादि और प्रतिक्षणकी वर्तना वाला होनेसे [illegible] है, [illegible] समयवर्ती है। जब मेरा स्वभाव सामान्य शुद्ध ज्ञान है। इस सामान्य सत्तात्मक आत्माको परखना और उसका अनुभव करना ही इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करनेका उपाय है।

लडो व जब शाम हुई तो हाथीपर ही बठे बठे सामायिक करने लगा, समस्त एकेन्द्रिय आदि जीवोंसे भी अपने किये हुये अपराधोंकी क्षमा मांगने लगा। किन्हीं कई व्यक्तियोंने यह खबर राजा तक पहुंचाई कि सेनापति तो तुच्छ एकेन्द्रियोंसे भी क्षमा मांगता है, वह युद्धमें विजय कैसे करायेगा, लेकिन उसे युद्ध करनेका अवसर दिया गया और वह विजयी हुआ। जब उससे पूछा गया कि तुम क्षुद्रप्राणियोंसे भी क्षमा मांगने वाले शत्रुपर विजय कैसे कर सके ? उसने बतलाया कि महाराज सामायिकके समय हम सामायिककी ड्यूटी पूरी तरह बजाते हैं, इसी तरह जब युद्धस्थलमें उतरते हैं तो वहां भी पूरे ध्यानसे युद्धकी ड्यूटी बजाते हैं। यही हमारी सफलताका कारण है। मतलब यह है कि आपको भी आत्मसाधनाके लिये कोई समय निश्चित रखना चाहिये जिसमें कि केवल आत्महितका काय किया जाय और चिन्ताएं, इच्छाएं और कल्पनाएं अलग ही रहने दें।

जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह स्नातकके केवलज्ञानकी महती ऋद्धिका स्मरण कर भक्तिमें स्वस्तिवाचन—तो साधु जितेन्द्रिय होकर जितमोह होते हैं। सूक्ष्मसे सूक्ष्म लोभको भी जीतकर क्षीणमोह गुणस्थान पाता और फिर उसके एक ही क्षण बाद केवलज्ञान प्रगट कर लेता है। यहांपर जो केवलज्ञान बताया जा रहा है वह सिद्ध भगवानके केवलज्ञानको लक्ष्य करके नहीं, किन्तु परम औदारिक शरीरमें स्थित अरहन्त भगवानको लक्ष्य करके कहा है। क्योंकि यहां साधुका स्वस्तिवाचन चल रहा है, केवलज्ञानी स्नातक साधुकी ऋद्धि है जिसका कि वर्णन किया जा रहा है। सिद्ध भगवानमें यद्यपि केवलज्ञान अरहन्तके ही समान है किन्तु वे साधु नहीं हैं। अरहन्त स्नातक केवलज्ञानी वे हैं जिनके समवशरणकी भी रचना होती है। समवशरणकी रचना ग्राम, नगरोंसे बाहर होती है। तीर्थंकर गुण आदि भी हों तो ऊपरकी समवशरण रचनासे उनमें कोई तरहकी बाधा या विकार नहीं होता, क्योंकि देव लोग अपनी ऋद्धिसे ऐसी रचना जैसे कि तत्काल कर देते हैं और जो अनूप होती है वहांके स्थित पुद्गल स्कन्धोंसे करते हैं, और उसमें अनेक विशेषताएं होती हैं। यह सब देवके द्वारा अपनी ऋद्धिके बलसे और भगवानके पुण्यको निमित्त पाकर निर्मित होती है। केवलज्ञान ऋद्धिकी यही विशेषता है, इससे चराचर पदार्थ त्रिकालकी भांति अनुभवमें आते हैं। केवलज्ञानीकी आत्मा पूर्ण स्वभावानुरूप होती है। उनके औदारिक शरीरमें कई अद्भुत बातें होती हैं, उनमें भूख, प्यास और रोग शोक, उपसर्ग आदिकी बाधा नहीं होती। समवशरणमें हर दिशामें उनका दर्शन होता है, यानी उनका मुख एक होकर भी चारों ओरसे दीखता है। केवलज्ञानीकी दिव्यध्वनि द्वादशांगके ज्ञानसे भी अनन्तगुणा अर्थ समाया रहता है, लेकिन हम लोग अधिकसे अधिक उसका द्वादशांगरूप रूप ही ग्रहण करते हैं। समवशरणकी और भी विशेषताएं हैं जो वर्णित की जाती हैं।

उसमे भी सारे ज्ञानका आधारभूत आत्मतत्व अनुभूत होता है। आत्माकी ऐसी चैतन्य अनुभूति ही आत्माके लिये वस्तुतः कल्याणरूप है लेकिन उसके लिये बाह्य अवलंबन उस [illegible] द्वारा [illegible] ही उपयुक्त होता है। अत विकल्पमे ही निम्न दशामे बाह्यके [illegible] अनुभूतिका लक्ष्य दिखाया। ये ऋद्धियाँ चाहसे उत्पन्न नही होती हैं। [illegible] है। ऋद्धिस्मरणसे तो पूजक चैतन्यके महत्त्वकी ओर ही जाता है।

ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं। ये ऋद्धियाँ तो बीचकी चीज हैं, मनुष्य लोककी चीज है, आत्मसाधनाका फल तो परमार्थ प्राप्त होना है।

निर्विकल्पदृष्टि पानेके पौरुषमें मनुष्य जीवनकी सफलता—मनुष्य जीवनकी सफलता इसीमें है कि विषयकषायोंको छोड परमार्थको प्राप्त किया जाय। विषय कषाय तो तिर्यञ्च भी करते हैं, और हमने भी किये हैं। लेकिन मनुष्य भवकी सार्थकता विषयसेवन आदिसे नहीं है। यह तो भाड झोंकनेके समान हुआ और जैसे कोई देहाती आदमी कमाईके लिये दिल्ली जैसे शहरमें गया, लेकिन वहाँ कोई बडा व्यापार न कर भाड झोंकनेका काम करता रहा। जब अपने घर वापिस लौटा तो लोगोंने पूछा कि कहाँ गये थे? वह बोला दिल्ली। वहाँ क्या किया? तो बोला भाड झोंका। तब लोगोंने कहा कि भाड ही झोंकना था तो अपने ही गाँवको ही क्यों छोडा? उसे तो यहाँ भी कर सकते थे? इसी तरह कहा जाता कि यदि विषयकषायमें ही जीवन बिताते रहे तो मनुष्यभव पानेकी क्या सार्थकता हुई, वह तो तिर्यञ्च आदि पर्यायोंमें भी कर सकते थे। कल्पना करो कि लौकिक पदमें ऊँचेसे ऊँचा पद पा लिया तो उससे आत्माका क्या हित सधा? हित तो एक निर्विकल्प दृष्टिमें है।

स्वोपयुक्त होनेके लिये आवश्यक पौरुषकी चर्चा—अपनी ओर दृष्टि आवे, इसके लिये मोटी बात यह तो आना ही चाहिये कि मैं सदाम हूँ और सदा रहूँगा, मिटता नहीं हूँ पहिले था, अब हूँ और आगे रहूँगा, ऐसा तो मैं हूँ। परन्तु पहिले और अब जो रागादी अवस्था है वह मैं नहीं हूँ। शरीर आदिके संयोग सबका पर हैं। जब इतना जान सके तो फिर आगे बढे कि संयोग मेरे आधीन नहीं है। मनपसंद सारे संयोग मिल भी जायें तो वे हमेशा रहने वाले नहीं हैं, नियमसे उनका वियोग हो जाने वाला है और जब तक संयोग है तब तक भी उनसे मुझमें कुछ आने वाला नहीं है। अतः पर मेरे सुखके साधक नहीं हैं। संयोग और वियोग दोनोंमें पर दुःखके निमित्त कारण हैं। फिर आगे यह विचारे कि ये समस्त पदार्थ अपने चतुष्टयसे परिणमन कर रहे हैं और हम अपने परिणमनमें हैं। इसमें भी आगे वस्तु स्वतन्त्र सत्ताका भान हो, जानना और निरखना आदि व्यापार करकर और स्वकी अनुभूतिमें पहुँचे, उस स्वकी अनुभूतिके पहिले कर्मोंसे और कर्मोदयके निमित्तसे होने वाले रागादि भावोंसे भिन्न आत्मा अनुभवमें आना चाहिये। तब फिर इन सबका भी विकल्प हटकर केवल स्वकी अनुभूति होने लगती है। यह अनुभूति द्वारा ही गम्य है। शब्दों द्वारा कुछ इशारा किया जा सकता है, शब्दोंसे वस्तुतत्त्वका अवलोकन नहीं कराया जा सकता। उस अनुभवमें अनादि, अनन्त, अहेतुक, एक ब्रह्म स्वरूपका ही भान होने लगता है। ऐसा अनुभव जब होता है, तब उपरान्त ऐसीसे ही होता है। ऐसे निर्मल उपयोगमें विचरने वाले ऋषीश्वर होते हैं जिनके कारण उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और निकट

चैतन्यप्रभुके अतुल हृदयप्रसादसे जिन मुनिराजोंको ऐसी शक्ति प्रकट हुई कि चार अंगुल पृथ्वीको छोडकर आकाशमें घुटनेको मोड़े बिना केवल हिला कर ही जो बहुत योजनों तक गमन करते हैं वे जंघाचारण ऋद्धि वाले योगीश्वर हम सबका कल्याण करें। आवलिश्रेणि ऋद्धिके ईश्वर योगिराज आकाशकी श्रेणियोंमें सीधे गमन करते चले जाते हैं अगल बगल कहीं नहीं डुलते, ऐसी ऋद्धिके धारी हमारा कल्याण करें। यहाँ सबत्र यह दृष्टि न भूलना चाहिये कि यहाँ ऋद्धि जिसके ध्यानसे होती है वह धर्म है, उस चैतन्य प्रभुकी दृष्टि धर्म है, वही आराध्य है। फलचारण ऋद्धिके धारी योगीश्वर वे हैं जो छोटे छोटे फलोंके ऊपर गमन करते चले जाते हैं परन्तु फलोंको व अन्य जन्तुओंको किञ्चित् भी बाधा नहीं होती है। जलचारण ऋद्धि ज्ञानजलमें अवगाहन करनेवाले योगीश्वरोंके प्रकट होती है, जिससे समुद्र पर भी बहुत दूर तक बिना भेदके थलकी भाँति चले जाते हैं और जल जन्तुओंको किञ्चित् भी बाधा नहीं होती है। तन्तुचारणऋद्धिधारी ऋषीश्वर मृणालतन्तु जैसे सूक्ष्म तन्तुओंपर विहार करें और वह टूट भी नहीं। ऐसे चारण ऋषीश्वर हमारा कल्याण करें।

प्रसूनबीजाङ्कुरनभश्चारण ऋद्धिधारी परमर्षियोंका स्वस्तिवाचन—प्रसून चारण-ऋद्धि—निज चैतन्य भावके दृढ लक्ष्यबलसे उत्पन्न हुए मुनीश्वरोंके परिणामोंसे ऐसी शक्ति प्रकट होती है कि वे योगीश्वर जिन्हें प्रसूनचारण ऋद्धि प्रकट हो गई है फूलोंपर भी विहार करते जायें तो भी फूलोंको व फूलोंपर रहनेवाले किसी जन्तुको बाधा नहीं होती। ऐसे प्रसूनचारण ऋद्धिके ईश्वर परमर्षि हमारा कल्याण करें। बीजचारणेश्वर—बीजोंपर विहार करते चले जायें तो भी बीजोंको या अन्य जन्तुओंको लेश भी बाधा नहीं होती। ऐसे बीज चारणऋद्धिवाले परमर्षि हमारा कल्याण करें अर्थात् वे गुण हमारे मनमें ध्यानमें बने रहें। अङ्कुरचारण ऋद्धिवाले योगीश्वर अङ्कुरोंपर भी विहार करते जावें तो अङ्कुरोंको जरा भी बाधा नहीं होती, ऐसे परमर्षि हमारा कल्याण करें। नभश्चारण ऋद्धिवाले योगीश्वर आकाशमें पद्मासन अथवा खड्गासन या किसी भी प्रकार अवस्थित होते हुए भी आकाश मार्गसे चले जाते हैं ऐसे परमर्षि हमारा कल्याण करें। ये ऋद्धियाँ आत्मस्वभावके दृढ़ ग्रहण बिना प्रकट नहीं होती हैं। इन ऋद्धियोंके बखाननेमें पूर्ण श्रद्धा होती है कि ऐसे ऐसे योगीश्वरोंने बहुत ही निश्चल आत्मोपयोग बनाया। वे साधु सन्त हमारे मनमें हों।

ज्ञानियोंके स्वावलम्बनका लक्ष्य—पूजक जिन भावोंसे पूजा करता है, वह प्रस्ताव इसमें दिया गया है। यद्यपि यह बाह्य अनेक वस्तुओंके निकट है तथापि उसकी दृष्टि पूजनकी, द्रव्य, जिनप्रतिमा और शुभोपयोगमें भी न रहकर शुद्ध चैतन्य भावोंके अवलम्बनकी होती है। साधुओंकी भी यही दृष्टि होती है। वे भी अपने इन सब आदिका ही लक्ष्य रखते हैं, क्योंकि उनको सबदा आत्मजागरण करना यो अनुभव होता रहता है कि अरस अरूप शुद्ध

मनोबली, वचनबली व कायबली ऋद्धिधारी ऋषियोंका स्वस्तिवाचन—मनोबल ऋद्धिसे अन्तर्मुहूर्तमें सम्पूर्ण द्वादशांग पाठ चिंतवन किया जा सकता है और वचनबल ऋद्धिसे अन्तमुहूर्तमें सम्पूर्ण द्वादशांगका पाठ कर सकते है। कायबल ऋद्धिसे अनेक उपवास आदि होनेपर भी कांति, आवश्यक काय आदि शरीरकी विशेष चामत्कारिक बातें होती जा सकती हैं। कोई अन्तर नहीं होता। विषयकषायोंमें मनको हटाकर दृष्टि जब ध्रुव चैतन्यमें लगाई जाती है जो कि सारभूत है तब आत्मामें अद्भुत शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो जाता है जिन्हें ऋद्धियां कहते हैं। किन्हीं किन्हीं तपस्वियोंकी साधना इतनी गम्भीर होती है कि ऋद्धि प्राप्त होनेपर भी उनको यह मालूम भी नहीं पड पाता कि मुझे ऋद्धि प्रगट हुई है क्योंकि ध्यान आत्मसाधनामें लगा रहता है। अन्य सबसे उपेक्षित भाव रहता है। जिसने हलुवाका स्वाद लिया है उसे उसका वर्णन सुनते हुए बातें सरलतासे गले उतरती जाती हैं, लेकिन जिन्होंने उसका स्वाद नहीं लिया है, व उसका वर्णन सुनते हुए कहने वालेकी मुंहकी तरफ देखते रहते हैं, भीतर उस बातको गले उतारनेकी चेष्टा करते हुए। इसी तरह जिन्होंने अपने स्वरूपको देखा है ऐसे ज्ञानी जीवोंका चैतन्यस्वभाव और चैतन्य-शक्ति शीघ्रतासे व्यक्त हो जाती है, जबकि अज्ञानी जीवोंका चिरकालके परिश्रमसे भी व्यक्त नहीं हो पाता। तो आपमें (आत्मा) सारभूत चीज क्या है? रागादि पर्यायें? नहीं। अनादि अनन्त अहेतुक ध्रुव स्वभाव रूप द्रव्य सार भूत और दृष्टि द्वारा उपादेय है। यह सारभूत तत्त्व सम्यग्ज्ञान द्वारा ही गम्य है उसकी सत्ता तो हमेशा है, लेकिन शुद्धदृष्टि बिना अव्यक्त ही रहता है। दृष्टिकी शुद्धता आने पर वह प्राप्त हुए बिना नहीं रहता और साथ ऋद्धियाँ भी प्रगट होती जाती हैं, जो कि साधकके लिए गौण होती है, उपेक्षणीय होता है। यदि उनमें चित्त लुभा जावे तो पूर्ण शुद्ध स्वरूपका प्राप्त करनेमें रुकावट पड़ती है।

> सकामरूपित्ववशित्वमैश्यं प्राकाम्यमन्तर्द्धिमथाप्तिमाप्ता ।
> तथाप्रतीघातगुणप्रधाना स्वस्तिक्रियासु परमर्षयो नः ॥

निरीहतामें ही इच्छानुसार रूप बना लेनेकी ऋद्धियोंकी प्राप्ति—इच्छानुसार रूप बना लेनेकी एक जो ऋद्धि है वह निरीहतामें प्राप्त होती है। इच्छाओंका जहां अभाव हो जाता है, वहां ऋद्धियां प्रगट हो जाती है। लेकिन ऋषीश्वर उन ऋद्धियोंकी भी इच्छा नहीं करते। वे योगीन्द्र आत्मा और जड शरीरके भेदको स्पष्ट जानते रहते हैं या तो अविरती भी जड और चेतनको भेदरूप अनुभव करता है लेकिन वह विषयोंका त्यागी न होनेसे आत्मक्रियामें असावधान रहता है, जबकि योगी आत्माकी क्रियामें पूर्ण दत्तचित्त रहते हैं। यद्यपि साधु अवस्थामें भी अन्तर्मुहूर्तसे अधिक समय तक आत्मा आत्मामें उपयुक्त नहीं रह पाती तथापि उनका आत्मपुरुषार्थ इतना प्रबल होता है कि प्रमत्त अवस्था भी अन्तर्मुहूर्त्त

विलक्षण अच्छे और बुरे फल इस कथानकसे बिल्कुल स्पष्ट होते हैं। इस समय भी यदि कोई पूर्व भावोंको बताने वाला ज्ञानी योगी होता तो भावोंके ऐसे विलक्षण रूप और उनका फल देखने सुननेको मिलता। फिर भी यदि हम अपनी समझको सही दिशामें लाना चाहे तो पद पदपर इससे मिलते जुलते प्रसंग हमारी आँख खोलनेके लिये काफी मिलेंगे। ना सही पर-भवकी बात इस भवकी ही बहुत-सी घटनाएँ मोह की तुच्छता और विवेककी महानताको बतलाने वाली पर्याय मिलेंगी। संसारकी इस विलक्षणताको देख परिणामोंको निर्मल करो। वह निर्मलता आयेगी कैसे? स्वरूपकी ओर दृष्टि करनेसे, शुद्ध स्वरूपका ध्यान करने से।

बाह्य पदार्थोंको असार जानकर उनकी उपेक्षा करके स्वो मुख होनेकी प्रेरणा — भाई अपने पुत्र धन और गृह शरीर और इनके विषयका ध्यान करनेमें वह निर्मलता न आयेगी। वह आयेगी अपनेसे भिन्न सबको भूलनेसे। शुद्धध्यानकी सिद्धिके लिये प्रारम्भमें ध्यान करते हुए जो भी बाह्य पदार्थ उपयोगमें आवें उन्हें हटाते जाओ, उन्हें अपने स्थानपर अपनी हालतमें रहने देनेका जैसे कि वे रहते हैं भाव रखते हुए उनसे उपेक्षा करते जाओ। इस तरह समस्त बाह्य पदार्थोंसे मोह हटालें तो वह निर्मलता अवश्य आयेगी। प्राणीको शरीर में मोह अधिक होता है परन्तु देखो! यह जड़ और संयोग वियोगके दुःख, रोग शोकके दुःख प्रत्यक्ष दिखाने वाला, नव द्वारोंसे घृणित मलको बहाने वाला मलोंसे बना स्पष्ट दीख रहा है इससे क्यों प्रीति लगाना चाहिये? क्या कुछ दिनोंके लिये संयोग हो गया इसलिये? नहीं, यह संयोग तुम्हारे दुःखके लिए है। शरीरका संयोग न हो तो सारे दुःखोंका अंत हो जाय, लेकिन यह शरीर ही है जो दुःखका निमित्त होता है। और दुःख इनकी परम्परा जारी रखनेके हेतु है। संयोग करके भी वियोगकी अनिवार्यता नहीं छोड़ता। क्या इससे बनी इन्द्रियोंसे सुख मिलता है इसलिये इससे प्रीति करना चाहिये? इन इन्द्रियोंके द्वारा सदा होने वाली इच्छाएं तेरे दुःखको बढ़ाने वाली ही होती हैं। यदि इन्द्रियाँ न हों तो आत्मा अपने स्वाभाविक अतुल अक्षय सुखका उपभोग करे, क्योंकि सुख इन्द्रियोंमें नहीं भरा है। वह तो आत्मामें है। आत्माके स्वभावमें सुख गुण हमेशा मौजूद है और कभी भी नष्ट न होगा। शरीरसे प्रेम करने का कोई उचित हेतु नहीं हो सकता, सिवा अपनी मूढ़ता भावके। अतः ऐसी मूर्छाका शीघ्रतासे परिहार करो। दुःखसे पिंड छुड़ानेके लिये मूर्छाका परिहार करना ही पड़ेगा। सुखी तभी होओगे। इसके विपरीत जो प्रयत्न कर सकते हो वह सब उल्टा ही है। संसारके कर्मोंको छोड़ नहीं सकते तो उन्हें करते रहो और फिर उनमें उपादेय बुद्धिको न रखो। भ्रमण करते करते, दुःख उठाते उठाते अथवा उपदेश सुनते सुनते बहुत समय बीत चुका अब समय सम्यग्दर्शनका योग्य

पुरस्कारमें दे दिया। राजाकी आँखें खुली और राजपुत्रको सिंहासनपर आरूढ़कर पुत्रोंका विवाह उसकी इच्छानुकूल कर आप विरक्त हो साधु बन गया।

शेष नरजीवनमें धर्मसाधना कर लेनेका अनुरोध—नटके द्वारा कही जानेवाली उक्ति को सब अपने ऊपर घटावें। आयुका भरोसा नहीं है। और जो वृद्ध हो गये हैं उनका तो अब इस पर्यायका अल्पकाल ही रह गया है। अब तो धर्मध्यानमें दृढ़तासे लग जाना चाहिये। मनुष्य भवको यों ही पूरा न कर देना चाहिये। जो मूर्च्छासे रहित परिग्रह रहित धर्म ध्यानमें समयका उपयोग करते हैं, उनके आत्मिक शक्तिका विशेष विकास होता है, जो ऋद्धिके नामसे कहा जाता है। जो लौकिक जनोंको चमत्कार दिखने वाली चीज है, वह चमत्कार भीतरसे ही पैदा होता है, बाहिरके पुरुषार्थसे नहीं।

मकामरूपित्व, वशित्व, ईशत्व व प्राकाम्य ऋद्धिधारी ऋषियोंका स्तवन—ईशत्व ऋद्धिसे साधुका प्रभुत्व प्रगट होता है। इन्द्रादिक सभी जीव उन्हें नीचे नमाते हैं। कामरूपित्वऋद्धि प्रगट हो जानेसे साधु मनचाहा सुन्दर रूप बना सकते हैं। वशित्वऋद्धि प्रगट होनेसे मुनिको जो देखता है वह उनके अनुकूल हो जाता है, उनके वश हो जाता है अथवा आत्माका बल ऐसा बढ़ जाता है कि इन्द्रियाँ वशमें हो रहती हैं, किञ्चित् भी अपना असर नहीं दिखा पाती। प्राकाम्यऋद्धिसे अनेक प्रकार शरीर बना सकते हैं। वे पृथ्वी में धस सकते हैं, पृथ्वीमें जलादिकाहकी तरह डुबकी ले सकते हैं। इस तरह अनेक प्राकाम्य वे मुनीश्वर कर सकते हैं, ऐसे ऋद्धिवर हमारा कल्याण करें।

इच्छाके रहते हुए ऋद्धि सिद्धिकी असम्भवता—यह बात विलक्षणसी है कि जो चाहता है उसे नहीं मिलता और जो नहीं चाहते हैं उन्हें मिलता है। चाहा मिल जाता भी क्या होता? क्योंकि मिलनेपर वैराग्य रहता है। एक कहावत है कि—जब चने थे तब चना नहीं थे, और जब चना है तब दाँत नहीं है। अर्थात् जब विषय भोगके योग्य शरीर था तब तो धन आदिका संयोग नहीं हुआ, जब वह हुआ तो शरीर या इन्द्रियोंकी अनुकूलता नहीं रही। यही हालत संसारकी है। दाँतो दावाना मन बहुत कम बैठना है। यदि मन नहीं बैठना है तो मत बैठने दो। शान्तिके पुञ्ज आत्मामें उपयोग लगाओ। इसके बिना किस चीजकी कमी है? क्या बाहिरी दाया है? यह तो हमारा है, चीज है हमारे ही आधीन है, बाहिरी समागमकी तो आवश्यकता ही नहीं है। और स्वयं ही जो लगाव लगा रखा है वस्तुतः उसे ही हटाना है। इस भटकनेके लिए यही मार्ग है कि आत्मा स्वीकार करके इस पर चलनेका उद्यम करना है। संसारका काम किया, धन कमाया और नाम कमाया तो क्या हुआ, आखिर उन्हें छोड़ना ही पड़ेगा। धन और नाम भी तो इनका टिकाऊ नहीं रहता।

इच्छाके त्यागमें अतुल निधिका विनोद—सब धन और सम्पदा सब ठाठ व्यर्थ हैं।

[illegible] और अनंत हो। ऐसा चैतन्य धन अपने भीतर ही मिलेगा, लेकिन उसकी अपेक्षा [illegible] वह नहीं मिलेगा। उसकी सतत दृष्टि अपेक्षा रखने से वह प्राप्त होगा। अन्य कुछ भी चाह नहीं करना चाहिये। एक नाईने सेठकी हजामत बनाई। सेठने कहा हम तुम्हे कुछ देंगे, [illegible] सेठके मनमें आई कि पूरी मजदूरी न देना पड़े तो अच्छा हो और नाईके मनमे आई कि [illegible] मांगू तो अच्छा।

एकाग्र स्थिरता होने पर ही अप्रतिघात ऋद्धि प्रकट होती है। वस्तुत प्रतीघात मात्र विकल्प ही है। जब अंतरंग प्रतीघात नहीं है तो तपस्वीके ऐसी शक्ति प्रकट हो जाती है कि बाह्य प्रतीघात भी नहीं होता। योगीश्वर मेरु पर्वत आदिके अन्दर चले जावें तब भी उन्हें रुकावट नहीं होती है। स्वहित चाहने वाले बन्धुको विकल्प प्रतीघात मिटा लेना चाहिये, विकल्प ही महान् प्रतीघात है।

विकल्पकी परेशानीका एक दृष्टान्त—एक सेठ धन कमानेको विदेश गये, उसी समय उनके घर पुत्रका जन्म हुआ। परदेशमें सेठ जी ने १४ वर्ष बिता दिये। अब उनको घर आनेकी चिंता हुई और घरको लिये चल दिये। उधर घर पर उनका पुत्र १४ सालका हो गया था, माँ ने पुत्रसे कहा—बेटा तेरे पिता जी १४ वर्षसे (तेरे जन्म कालमें ही) विदेश गये हुये हैं, वे स्वयं अभी तक नहीं लौटे, तू जाकर लिवा ला। वह इधरसे चला, रास्तेमें एक जगह धर्मशालामें ठहरे लेकिन पुत्र और पिता दोनों एक दूसरेसे अपरिचित थे, जिससे एक दूसरेको पहिचान न सके। पुत्रके पेटमें दर्द उठा, वह जोर-जोरसे चिल्लाने लगा, पास में ठहरे हुये पिता जी ने धर्मशालाके मैनेजरको कहा कि मैंने १०) किराया दिया है, इस लड़के को हटाओ। खैर, ५ मिनटमें लड़का मर गया। सेठके पास पेट दर्दकी अच्छी दवा भी थी, परन्तु सेठका तो वह शत्रु हो रहा था। दूसरे दिन सेठ घरको रवाना हुए। घर आकर स्त्रीसे मालूम हुआ कि पुत्र मुझे लेने गया है, तब वह पीछे उसे खोजने फिरे और जब उसी जगह पहुंचे जहाँ दोनों अपरिचित हालतमें ठहरे हुये थे, तब धर्मशालाके मैनेजरसे अपने पुत्रके बाबत निकलनेकी बात कही और उसका नाम ठाम बतलाया। मैनेजरने कहा एक लड़का अमुक समयमें यहाँ आया था, उसको जोरसे पेटमें दर्द उठा जिससे वह मर गया। सेठको पुत्रके मरने का नाम सुनते ही मूर्छा आ गई। पहिले जब मिले थे तब अपनेपनका भाव नहीं होनेसे उसके दुःखमें भी सेठजीके संवेदनाका भाव नहीं हुआ, किन्तु आज पुत्रत्वका मोह है जो उनकी आत्माको व्याकुल करने लगा, परेशान करने लगा।

दुःखकी कृत्रिमता व वास्तविक सुखकी महत्ता—दुःख बनाया जाता है और सुख को बनाना नहीं पड़ता, वह तो अपने आप होता है। इन्द्रिय-सुखकी भी बात देखी जाती है, यदि बाह्य इन दुःख रूपोंको नहीं बनाया जाय तो जीवको स्वाभाविक इतर सुखकी रहे, क्योंकि यह तो कल्पित नहीं है परकी अपेक्षा नहीं है। लेकिन इस जीवका पता नहीं होनेसे सच्चे सुखसे दूर रहकर, सुखाभासकी चाहमें भटकता रहता है। तो जब तक भ्रमबुद्धि न हटे, अपनी स्वतन्त्र सत्ताको न जाने, मोहको न छोड़े तब तक दुःख ही रहता है। हैरानी की बात यह है कि इन्द्रिय सुख भी अपनेसे ही होता है लेकिन लोगोंने पुत्र और नाती आदिसे सुख होना मान रखा है। तो इस भ्रम रूपी दुःखोंके प्रति इन्द्रिय

कोई जाति है और न कोई सम्प्रदाय, न कोई गरीब है और न कोई धनी, न कोई पुरुष है और न कोई स्त्री।

पर्यायबुद्धि न होनेमें सिद्धि—रुडकीमें जैनियोंसे अजैनोंकी संख्या सभामें दूनी रहती थी। वहाँ एक अजैन महिलाने प्रश्न किया कि हम भाग्यसे स्त्री हुए हैं, हमारा उद्धार कैसे हो? मैंने उत्तर दिया कि तुम अपनेको स्त्री न मानो। सो कैसे? आत्मा न स्त्री है और न पुरुष, वह तो ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्तिका पुंज अमूर्त है। तो चैतन्य स्वभाव वाले उस अमूर्त आत्मद्रव्यको देखो। आजसे अपनेको ऐसा देखनेका अभ्यास करो। इस बातसे उस महिलाको भीतर बहुत सन्तोष हुआ, और भारी निर्मलता व्यक्त की। चेतन स्वभावकी परख करके जब उसका अनुभव आने लगता है तब पहिले विकल्पोंका निषेध हो जाता है और वह अपने आप हो जाता है। आत्मा अपने स्वरूपको जानकर जब अपनेमें ठहर गई तब निम्न दशाके विकल्प स्वयं मिट गये। यदि अपनेको पुरुष और स्त्री आदि पर्यायरूप ही देखते रहे तो संसारका भ्रम न मिटेगा। लेकिन जो स्वभावमें रम जाते हैं उनके अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं। प्रतिघात रहित आत्माकी आराधनासे ऐसी आत्म शक्ति प्रगट होती है कि जिससे शरीरको भी अप्रतिघात रूप बनाया जा सकता है, औदारिक शरीर होकर भी वह मेरुके आरपार सरलतासे शीघ्रतापूर्वक जा सकता है। स्थूल शरीरका सूक्ष्म रूपसे परिणमन करना यह आत्माके द्वारा नहीं हुआ, किन्तु यह सूक्ष्म परिणाम स्वयं उस स्थूलस्कंधमें सूक्ष्मरूप उसीका ऋद्धिधारी आत्माके निमित्तसे हुआ।

प्रभुभक्तिमें अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका सदर्शन—ऐसे आत्मरत योगीन्द्र जो कि उक्त ऋद्धियोंके धनी हैं वे हमारा कल्याण करें। पूजक ऐसे भक्ति रूप भाव प्रगट करता है। फिर भी अन्तरंगमें भगवानकी उस वाणीकी प्रतीति होती है कि कल्याण हमारेसे ही होगा। क्योंकि उसे भगवानकी दिव्यध्वनिमें जो कहा गया है उसका स्मरण होता है। भगवानकी दिव्य ध्वनिमें यह कहा जाता है कि जब समस्त विकल्पोंको छोड़ चैतन्यकी अभेद उपासना करोगे तभी तुम्हारा कल्याण होगा। भगवान अन्योंको अपनी शरणमें आनेकी बात नहीं करते जैसा कि अन्य पौराणिक ग्रन्थोंमें देवताओंकी भांति भक्तोंको अपनी शरणमें आनेकी बात कही जाती है। वीतराग जिनेन्द्रने तो यही कहा कि रागभाव संसारका कारण है। मेरे प्रति भी जो राग है उसे छोड़ने पर ही मुक्ति मिलेगी। वे अपनी भक्ति करनेका उपदेश कदापि नहीं देते। क्योंकि अपनी भक्ति करानेके भाव तो देवत्व शक्ति रहित अल्पज्ञ भाव हैं, ऐसे भाव तो रागी देवोंमें ही हो सकते हैं। वीतराग देवके तो रागके दूर होनेसे इच्छा का भी अभाव हो जाता है, जिनेन्द्र भगवान वीतरागी नहीं होते, सर्वज्ञ तो वे हैं ही तथा वीतरागी होते हैं। जिन देवका ऐसा दिव्य उपदेश है और जो स्वयं तदनुरूप बन गया,

क्षीण हो जाए। आजकल जब कि खाने पीने आदिकी लोलुपता अधिक बढ़ती जा रही है, उपवासकी बड़ी विशेषता है। पर्वके दिनों इसे अवश्य करनेकी भावना और प्रवृत्ति रखना चाहिये।

घोर, घोरपराक्रम ऋद्धिधारी ऋषियोंका अभिवादन—घोरऋद्धिके प्रगट होनेसे बड़ी आपदाएं उपसर्ग वेदना और बाधाएं होनेपर भी ध्यान नहीं टूटता, ध्यानसे विचलित होना भी क्षुब्धता व कमजोरी प्रगट नहीं होती। ऋद्धिसे ऐसी शक्ति बनी रहती है कि बाहरी विघ्न बाधाओंका रोग और संयोग वियोग आदिका आत्मापर कुछ भी असर नहीं होता। घोरपराक्रमऋद्धि वह है जिसमे उपद्रव और उपसर्ग होते ही नहीं। इस ऋद्धिके मुनि जहाँ होते हैं वहाँ आसपासके स्थानोंमे सुभिक्षता हो जाती है सब ऋतुओंके फल फूल जाते हैं। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि क्या यह ऋद्धि तीर्थंकरोंके नहीं होती? यदि होती है तो पार्श्वनाथ भगवानपर उपसर्ग क्यों हुआ? इसका उत्तर इस प्रकार है। इस ऋद्धिमे भी तो उपसर्ग हो यदि तो भी विचलितता न हो, इसकी ही प्रधानता है। अब बात रह गई पार्श्वनाथजीको उपसर्ग क्यों हुआ? सो भाई इसे हुंडावसर्पिणी कालकी एक विचित्र बात कही गई है। वैसे तीर्थंकरोंके मुनि अवस्थामें भी कोई उपसर्ग नहीं कर सकता।

योगिसत्सङ्गकी महिमा—आत्मसाधना और शान्तिसे सम्पन्न ऐसे योगी ही जगतके सच्चे बन्धु हैं। उनसे कभी अहित नहीं होता, अहितकी सलाह उनसे कभी नहीं मिल सकती, जबकि मोही कुटुम्बी जीव इसके विपरीत होते हैं वे मोह और रागकी ही पुष्टि करते हैं। यदि उनमेंसे कोई निकलना चाहता हो तो उसमे वे बाधक होते हैं, आत्मशान्तिकी सलाह मिलना उनसे असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। मोही जीव अपने परिचितोंसे अपने दूषित स्वार्थोंकी विषय और वाञ्छाओंकी पूर्तिकी ही आशा रखते हैं। जब अपने ही कल्याणकी भावना नहीं तो दूसरेके लिये वहाँ तक सहयोग दे सकेंगे? अतः रागियोंका संग अहितकर ही है दुःखकर ही है। यदि हित और सुख शान्ति पानेकी सलाह लेना हो तो विरागियोंसे ही लेना चाहिये। विरागियोंके दर्शनमात्रसे हेय उपादेय बुद्धिका विकास जागृत होता है। जैसे कि उदयसुन्दरका बहनोई वज्रभान अपनी स्त्रीमें बड़ा आसक्त था, जब उसकी स्त्री अपने भाईके साथ मायके जाने लगी तब उसका वियोग सहन नहीं हुआ और वह भी अपनी स्त्री और सालेके साथ हो लिया। रास्तेमें जङ्गलके बीच एक दिगम्बर योगीको ध्यानकी मुद्रामें देखा, [illegible] हँसीमें देख सालेने मजाक किया कि क्या आप भी ऐसा बनना चाहते हैं, [illegible] देख ऐसा मजाक किया गया था, लेकिन [illegible] कि [illegible] बननेमें देर नहीं लगती। निमित्त भी [illegible] परिवर्तनका [illegible]

करना सो बाह्य तप है। अनशन बाह्यतप इसलिये है कि इसे ज्ञानी अज्ञानी सभी कर सकते हैं। तो निज चैतन्य स्वभावके समीप बसना सो अनशन तप है। जो ऐसा तपते थे उन्हें ऋद्धियाँ प्रगट होती थी।

अवमौदर्य तप—२ दूसरा तप अवमौदर्य है—जिसका मतलब है पेटसे कम खाना, इसीलिये इसको ऊनोदर भी कहते हैं। भूखसे कम खानेमें कई गुण हैं, शरीर निरोग रहता है, हर काममें उत्साह रहता है, चित्तमें प्रसन्नता रहती है, आलस्य नहीं घेरता, इसलिये जीवनमें अकर्मण्यता नहीं रहती, ज्ञानाभ्यासमें मन खूब लगता है, बुद्धि प्रखर होता है। ध्यानकी सिद्धिके लिये अल्पाहार होना परम आवश्यक है और मोक्षमार्गमें ध्यानकी अनिवार्यता आवश्यक है, इसलिये अल्पाहार मोक्षमार्गका एक बाह्य साधन है अतः मुमुक्षु जीवोंमें अनिवार्यरूपसे पाया जाने वाला यह महत्त्वपूर्ण गुण है। किन्तु अल्पाहारसे चित्तमें संतोष न आवे, केवल दिखावेके लिये अथवा आज मैंने अल्पाहारका नियम लिया है इसलिये थोड़ा खाना चाहिये आदि अभिप्रायसे थोड़ा भोजन करना अवमौदर्य तप नहीं है यदि अल्पाहार करके संतोष न हो तो। बच्चा जैसे थोड़ा भोजन करके खेलकूदकी धुनमें बचा भाग जाता है इसी तरह मुनिको आत्मक्रीडाकी धुनमें ना कुछ जैसा कुछ भोजन मिले उस थोड़ासा खाकर चल देना है सन्तुष्ट होकर। उसे मनमें यह ध्यान नहीं आता कि मैं भूखा रह गया हूं, आगे जल्दी भोजन करनेकी सुविधा मिल जाय। तब उसे अवमौदर्य तप कहते हैं।

वृत्तिपरिसंख्यानतप—३—तीसरा व्रत परिसंख्यान तप है। आहारके विषयमें कुछ अटपटी प्रतिज्ञाएं लेनेका व्रत परिसंख्यान तप कहा है। जैसे कि आज इतने घरमेंसे आहारविधि मिलेगी तो ही लूंगा, अमुक स्थितिमें दातार होंगे तो ही आहार लूंगा। काम आहार मिलेगा सो लूंगा आदि। ऐसी प्रतिज्ञाओंके करनेका प्रयोजन क्या है? ऐसी प्रतिज्ञाएं आहार के विषयमें निर्लोलुपताकी परिचायिका है। आहारमें लोलुपता घट बिना ऐसी प्रतिज्ञाएं नहीं ली जा सकती। रसना इन्द्रियकी तीव्रता घट बिना व्रतपरिसंख्यान नहीं हो सकता। इस हालतमें भोजन मिले तो लें अन्यथा नहीं लें, इस प्रकारकी भावनामें भोजन और शरीरकी निस्पृहताका उत्साह है। दोष और अन्तराय टालकर भोजन लेनेकी इच्छा आती है, अन्तराय हो जानेपर खेद न आनेकी भावना पुष्ट होती है, क्षुधा और तृषा परीषह जीतनेका अवसर प्राप्त होता है, समताकी प्रबलता आती है, भोजनविषयक स्पृहाओंका दमन होता है। ऐसी अटपटी प्रतिज्ञाएं लेनेपर भी उनके लाभान्तरायके क्षयोपशमसे वह विधि मिल जाती है। लेकिन कभी नहीं मिलती तब वे निराहार रहकर अपनेको धन्य मानते हैं कि अच्छा हुआ भोजन नहीं करना पड़ा, ध्यान और स्वाध्याय निर्विघ्न होगा, प्रमाद नहीं सतायेगा, क्षुधा परीषह जीतनेका सुअवसर प्राप्त होगा। जिनके आहारसंज्ञाके अभावकी भावना है

विविक्तशय्यासन तप—५ एकान्त स्थानमे सोना बैठा यह विविक्तशय्यासन नाम का तप है। वह इसलिये कि एकान्त स्थानमे उपयोगकी स्थिरता रह सकती है। यह बाह्य रूपसे विविक्तशय्यासन तप हुआ। अन्तरग विविक्तशय्यासन तप क्या है? जैसे–भीडमे भी बैठे हो फिर भी आत्मस्वरूपमे ध्यान रहे, परका ख्याल हो न जावे, तो वह एकान्तवास निश्चयसे है। पुष्पडाल मुनि एकान्त वनमे रहकर भी बहुत समय तक घरका ख्याल दौडाते रहे तो उनका वह एकान्तवास तप नही हुआ। और जब श्री वारिषेणके बताये इनको निमित्त पाकर शान्त हुये तो वे जमघटमे भी एकान्तवासी थे।

कायक्लेश तप—६ छटवा बाह्य तप कायक्लेश है। जहाँ आत्मा ही साधना कर रही हो ऐसे प्रसगमे कायको क्लेश होनेपर भी उसमे ध्यान न जाना कायक्लेश तप है। और कोई उपद्रव या उपसर्ग आ सकते हैं उनको सहन करनेके लिये ज्ञानसाधनामे रहते हुए शरीरको कष्ट देना, आतापन योग करना, अनेक आसनोसे लम्बे समय तक ध्यान करना, दीर्घ काल तक एक ही आसन बैठे रहना आदि भी कायक्लेश तप है। कायक्लेश तपमे शरीरको दुखाना ध्येय नही होता बल्कि शरीर आत्मसाधनाके योग्य सहिष्णु और अनुकूल रहे, उसमे सुखियापन आकर मोक्षमार्गकी साधनामे शिथिलता न आवे इसलिये तथा उपसर्ग आदि की उपस्थितिमे आत्मा अपने कर्तव्यसे च्युत होनेकी कमजोरीमे ना आ जाय इसलिये पहिलेसे ही धीरताका अभ्यास करनेके लिये यह तप होता है। वाह्यमे लोगोको कष्टमय अवस्था दीखने पर भी साधकके अन्तरगमे आत्मानुभव करनेमे प्रवृत्त आनन्द रहता है, यदि ऐसी स्थिरता नहीं आती तो भी उस स्थितिको लानेके लिये अभ्यासरूपमे यथायोग्य प्रतिसमय इस प्रयोग को किया जाता है। जो मुनि कायक्लेश तपके अभ्यासी हो जाते हैं वे ही मुनि अपने गुरुके द्वारा एकल विहारी होनेकी अनुमति पा सकते हैं ऐसा आगममे कहा गया है। शरीरसे उपेक्षा भाव होनेपर कायक्लेश तप हो ही जाता है। इस तपके होनेके बाद कोई तपस्वी की ऋद्धि प्रगट हो जाती है, जिससे बाधा करने वाली परिस्थिति हो नही आ पाती। [illegible] याचितामे भक्त चाहता है कि वे हमारा कल्याण करें। याचितार तो वीतरागताकी ओर ही बढे चले जाते हैं लेकिन उनकी तरफ आनुभाव होनेसे भक्तमें स्वय कल्याणमय अवस्था प्रगट हो जाती है।

अन्तरग तपोमे प्रथम प्रायश्चित्तनामा तप—अन्तरग तप ६ प्रकारके हैं–१ प्रायश्चित्त २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय, ५ व्युत्सर्ग और ६ ध्यान। प्राय प्रायश्चित्त [illegible] जाता है किन्तु इसका अर्थ उसका अपराध नी है यहाँ अपराध अर्थ ही लेना। [illegible] का अर्थ शुद्धि करना है तो अपराधोकी शुद्धि करना प्रायश्चित्त तप है। अपराध [illegible] तरह होते हैं कि आगे इस अपराधको न किया जाय। अपराधका [illegible] करना है,

मैं इन भेदोंसे रहित अभेद चित्सामान्य स्वरूप हूं। जब आत्मस्वरूपका ऐसा ख्याल आता तो पुण्य पाप आदि जो (विशेष) हैं उन्हें अपना नहीं मानता। ऐसा सामान्य अनुभव करने वालेकी आवाज है कि ये सब किये गये शुभ अशुभ मिथ्या हों। विशेषमें रहते हुए भी उसमें दृष्टि नहीं रखता। इसी एक सामान्यके विचारमें १ प्रतिक्रमण २ आलोचना और ३ प्रत्याख्यान ये तीनों हो जाती है। जो उदयमें आ रहे विभावपरिणामोंसे अपनेको लौटा लेता है उसके आलोचना हो गई, प्रायश्चित्त हो गया पूर्वकृत पाप निष्फल होकर निर्जीर्ण हो गये, इसलिये प्रतिक्रमण भी हुआ। आगामी कर्म जो नहीं करे वह प्रत्याख्यान हो गया। ऐसा प्रायश्चित्त मुनि जन निरंतर करते रहते हैं। आप कहेंगे कि पञ्चसमिति आदि पालने वालेको प्रायश्चित्तका सर्वदा अवसर क्यों? तो उत्तर है कि दोष सवदा होते रहते हैं, दोष जब सवदा हैं तो उसका प्रायश्चित्त भी है। कषायोंकी सत्ता सूक्ष्मतम रहने तक दोष होते ही रहते हैं। बुद्धिपूर्वक नहीं तो अबुद्धिपूर्वक। अतः प्रायश्चित्त भी समय-समयपर करना पड़ता है।

विनय तप——२—दूसरा विनय तप है—यह तप इतने महत्त्वका है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। विनयके बिना जीवन ही नहीं, उन्नति नहीं, लौकिक सिद्धि नहीं और परमार्थ भी नहीं। जितने भी सन्मार्गी हैं वे सब विनयशील हैं। अविनयी जगत में रुलता रहता है और विनयवान् संसारसे छूट जाता है। विनयसे विद्याकी प्राप्ति होती है, इह लोक सुधरता है और परलोक भी सुधरता है। विनयहीनता नहीं रहनेके ही कारण घर घरमें लड़ाई होती है। समाज समाजमें विद्वेष चलता है। और एक राष्ट्र दूसरेको हड़पनेकी फिकरमें रहता है। यदि विनय हो तो सुख शान्ति रहती है। क्योंकि विनयमें सुबुद्धि जागृत रहती है। जो प्रतिभाशील छात्र होता है वह प्राय विनयवान ही होता है, प्रतिभा भी उसकी विनयसे ही चमकती है। अविनयी प्रतिभाशालीका दरबार बहुत कम मिलेगा। मोक्षमार्गमें भी विनयके बिना आगे नहीं बढ़ सकता। मानी रहकर मोक्षमार्गपर कैसे चल सकेगा? कभी नहीं। परमार्थकी बात तो विनय बिना चलती ही नहीं। विभाव से रुचि हटाकर स्वभावकी रुचि किये बिना क्या कर सकता है? देव, गुरु और धर्म और आयतन और उपकरणमें विनय आये बिना धर्ममें बढ़ना कैसे सम्भव हो सकता है? मोक्ष मार्गीका जीवन संयमी और साधु जीवन है, उसमें कोमलता, सहृदयता, स्वाद्युता और नम्रताका भाव छलकता रहता है। कठोरता और उद्दण्डता नाना तरह जीवनका साथ छोड़ चुकी होती है। वह अपने कर्तव्यके प्रति कठोर होकर भी दूसरोंके प्रति भी कोमल और सरस ही होता है। किसीको अच्छा कहना हो तो प्रियदर्शन कह। विनयवान पुरुष विनय द्वारा जहाँ तक सम्भव होता है सुखी जीवन बिताता है, बिना व्यवहार ... ॥

एक कपिलेश्वर जी थे उन्होंने भी पढाया है। उनकी टाँग टूटी थी। जब हम उनके पैर दवाते तो टूटी टाँगको दबानेमें बड़ा आनन्द आता और गुरु जी को इष्ट था। मनमें यह नही माना कि लगडे पैर को क्यों दवाया जाय? लगडेपनमें विद्यागुरुमें अनादर नहीं होता था। अब जमाना बडी तेजीसे बदल रहा है कि विनय गुण भी हीन और हीनतर होता जाता है। पहिले गुरुको साष्टाग विनय होती थी, फिर पचाग होने लगी, पीछे हाथ जोड सिर नवाकर करने लगे। फिर सिर नवाना रह गया और केवल हाथ जोडना रह गया, अब हाथ जोडना भी मिट रहा है और मुखसे ही कुछ कहकर अभिवादन किया जाता है और साधारण अपने समान वालोंमें तो पाँच उगला मस्तकको लगाकर अथवा १ उगली लगाकर अथवा मुँहसे कुछ भी न बोल केवल हसकर और यहाँ तक कि घूसा मुक्का आपसमें लगाकर पैरमें पैर मारकर अभिवादन करनेकी परिपाटी चल निकली है। ये अच्छे भविष्यके लक्षण नहीं हैं।

विनयमें गुरुप्रसादका लाभ— एक गुरु अपने सब छात्रोंमें से एकपर विशेष प्रेम रखते थे क्योंकि वह विनयवान बहुत था। तब गुरुजीका झुकाव हो ही जाता था। एक बार गुरु जी की स्त्रीने कहा कि आप एक छात्रपर ही विशेष प्रेम क्यों रखते हैं? उन्होंने उसका कारण समझानेके लिये एक प्रसग बनाया। भुजाम आमका पत्र बाँधकर छात्रोंको यह मालूम कराया कि बडे जोरोंका दर्द करने वाला फोडा उठा है। तब सब छात्रोंमें से कोई डाक्टरको लानेकी बात पूछता, कोई वैद्यको लानेको और कोई कुछ कोई कुछ। लेकिन गुरुजी ने कहा, इस फोडेमें मवाद है वही तकलीफ दे रही है यदि कोई मुँहसे उसे चूस कर निकाल दे तो ठीक हो सकता है। सबको छोड मारे छात्र बगलें झाँकने लगे। लेकिन उस विनयशील छात्रने तुरन्त लपककर पीब चूसनेकी आतुरता दिखाई और मुँह लगाने लगा था कि गुरुजीने कहा— बस रहने दे, मिट गया फोडा। ऐसा ही दिखाना था और अपनी श्रीमती जी को कहा कि इस कारणसे इसपर स्वाभाविक अधिक प्रेम है। विनय ऐसी चीज है जो हर तरह समृद्धिशाली बनाता है। ऊपरी विनय दण्डवत करना और हाथ जोडना आदि है और अन्तरग विनय है अपना मन वचन कायका सरल रखकर विशेष स्वयनुगत करना।

विनयका मुख्य लक्षण अनुवृत्तिभाव—बडोंकी रुचिका ध्यान रखना, अनुकूल चलना इसे अनुवृत्ति भाव कहते हैं। जैसे कोई बेटा अपने बापका भोजन भी बढिया करावे लेकिन उसकी बात न माने तो उसका विनय करना नहीं हुआ। मन्दिरमें जिनकी खूब स्तुति पूजा करे, लेकिन जिन भगवानके उपदेशोंपर ध्यान ही न दे, मनमाना प्रवृत्ति भी सेवन करता रहे तो क्या वह भगवानका विनयकर्ता कहलायेगा? नहीं। यह विनयके भावका अभाव ही है। उनके उपदेशके अनुसार चलना ही उनका विनय है। ...

उनकी खबर लेनेके लिये अपने शिष्योंको भेजा । पता लगाते लगाते वे एक अटवीपर ध्यान लगाये मिले । तापसी शिष्योंने सोचा कि कपड़ा तक पास नहीं, खाने पिलानेका भोजनका ठिकाना नहीं, शरीर सूखा जा रहा है । बड़ी गरीब हीन हालत है गुरुके भाई की । यह दशा शिष्योंने जा अपने गुरु भर्तृहरिको बतलाई । उन्होंने दुःख माना और एक तूम्बीरस उनके पास भिजवाया जिससे कि सोना तैयार कर गरीबी दूर कर सकें । रसकी तूंबी ले जाकर आचार्यजी को दी गई और उसका गुण बखाना गया । उसकी तारीफ सुन आचार्यने तूंबी को उलट दिया और रसको व्यर्थ कर दिया । भर्तृहरिके शिष्य उनकी यह क्रिया देख पशोपेशमें पड़े और विचारा कि इनका मस्तक ठिकानेपर नहीं है । वापिस यह खबर मिलने पर वे कुछ शिष्योंके साथ स्वयं भाईके पास गये और मिलजुलकर साथकी दूसरी रस तूंबी छोटे भाईने बड़े को दी, तो आचार्यने उसे भी उड़ेल दिया भर्तृहरिको बड़ा पश्चाताप हुआ और इसका दुःख प्रकट किया । शुभचन्द्राचार्यने उन्हें समझाया, यदि मायामें ही पड़े रहना था तो आपने घर क्यों छोड़ा ? जिस साधनाके लिये निकले थे उसको भूल गये और कुमार्ग में पड़ गये । यदि सोना ही चाहिये तो लो कहकर पैरके नीचेकी धूल पासकी शिलापर डाल दी । वह शिला तत्काल ही स्वर्णकी हो गई । भर्तृहरिको भाईकी इस अलौकिक साधनाके चमत्कारको देख चेत आया और वह अपनी तुच्छतापर लजाये । सच है वास्तविक वस्तुका ज्ञान न होनेसे प्राणी अज्ञानी ही रहते हैं और बाह्यपदार्थोंको ही सब कुछ मानके प्रिय लगे रहते हैं, भटकते रहते हैं । लोग अपनेसे भिन्न अत्यन्त भिन्न पदार्थके प्रिय बनते मर जाते हैं । सन्देहकी बुद्धि नहीं हटती । एक बार भी अपारों सांसारिक भारसे रहित अनुभव नहीं कर पाते । लेकिन सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा अनुभव करता रहता है । जिससे वह ऋद्धि प्रकट हो जाती है कि उनके मैल तथा शरीरकी स्पर्श की हुई धूल रोगीके शरीरमें लगते ही उसे चंगा कर देती है ।

सर्वौषधि आशीविष, दृष्टिविष ऋद्धिधारी ऋषीश्वरोंका अभिवन्दन——सर्वौषधि ऋद्धि यह है कि जो शरीर मात्रको औषधि रूप कर देती है । उस शरीरके स्पर्श करनेवाली हवा रोगीके शरीरको मिल जाय तो रोग तत्क्षण दूर हो जाय, भूत प्रेत और शाकिनि भग जाय । आशीविष या आशीविषऋद्धिके प्रतापसे कितनी ही अद्भुत बातें होती रहती हैं । कोई व्यक्ति मूर्छित पड़ा हो और उससे ऐसे योगी कुछ कह दें, या बोलें तो वे भी ठीक हो जाते हैं । खाया हुआ विष भी ऐसे योगीको अमृत रूप परिणमता है । दृष्टिविष ऋद्धि जिनके प्रकट हुई है वे यदि किसी मूर्छित प्राणीकी तरफ दृष्टि कर दें तो उसकी मूर्छा दूर हो जाती है । कोई तरहके विषका असर किया या हो गया हो और उस [illegible] ऋद्धिधारी योगी दृष्टिपात करें तो वह विषका नाश [illegible] हो जाय । [illegible]

समवशरणमे स्थित भगवानकी पूजा कर रहा हू । ऐसी पूजा करने वाले भक्तको कहिये भगवानके दर्शन क्यो न होगे ? अवश्य होगे । इस भवमे परोक्षमे तो उनका आभास ही आवेगा किन्तु आयुका अन्त होनेपर अवश्य ही उनका सत्समागम मिलेगा और हम अपने को कृतार्थ करेंगे । बीस तीर्थंकरोकी पूजाके बाद अकृत्रिम चैत्यालयोकी पूजा की जाती है अथवा अर्घ चढाते हैं पश्चात् सिद्ध पूजा करते हैं । स्थापनाम बोलते है—

ऊर्ध्वाधोरयुत सबिंदुसपर ब्रह्मस्वरावेष्टित,

वर्गापूरितदिग्गताम्बुजदल तत्सन्धितत्त्वान्वितम् ।

अत पत्रतटेष्वनाहतयुत ह्रींकारसंवेष्टितम्,

देव ध्यायति य स मुक्तिसुभगो वैरीभकण्ठीरव ॥

सिद्धस्वरूपकी चित्तमें स्थापना—सिद्ध भगवानमे प्रदेशवत्त्व गुणके कारण अमूर्त आकार है, फिर भी मूर्तिमान कोई आकार उनका नही है, क्योकि मूर्तिकपना पुद्गलका ही गुण है, अशुद्ध दशामे जब आत्मा रहता है तब शरीरके सयोगसे उसका भी कुछ न कुछ शरीराकार आकार व्यवहारमे कहा जाता है । निश्चयसे तो ससारी दशाम भी आत्माके प्रदेशोमे मूर्तिकपना नहीं आ जाता, शरीराकार रह कर भी अमूर्त ही रहता है । और फिर सिद्ध दशा प्राप्त कर लेने पर तो शरीरका भी सग छूट जाता है । अत सिद्ध भगवानके कोई मूर्तरूप नही है, अरहत जैसे प्रातिहार्य आदि कोई औपाधिक रूप भी नही है । अत उनका वर्णन मूल बीजाक्षरो द्वारा करते हैं—क्योकि व्यवहार बहुत गृहस्थोके अमूर्त आत्माके अवलम्बनमे मन ठहरता नही, अत कोई मूर्तरूपका आलम्बन लेना पडता है, जिसके विचारते विचारते उस चित्स्वभावमें भी दृष्टि पहुच जावे—उन बीजाक्षरों द्वारा इस प्रकार कहते है—जैसा कि उपर्युक्त श्लोकमे कहा है । ऊपर और नीचे "र" से सहित तथा बिन्दु सहित सपर अर्थात् स से आगका अक्षर "ह" यह तो मन्त्रके बीचमे है जिसका आकार ऐसा बना ह॑ फिर यह बीजाक्षर ब्रह्मस्वरोंसे वेष्टित है अर्थात् उसकी दक्षिण परिक्रमा कर । इस 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अ अ' ये स्वर लिख जावें । फिर ८ पाखुडी बनाई जावे, उन पाखुडियोंकी सधिमे णमोकार मन्त्रका एक एक वाक्य लिखे और दशाम क्रमसे वर्गाक्षर लिखे । अन्त पत्रतटोंम अनाहत इन और ह्रीं कर सहित लिखें । इत्यादि विधिसे मन्त्रको पूरित करे । इस प्रयोगमे वाच्य देवका जो ध्यान करता है वह मुक्तिलक्ष्मी से सुशोभित होता है । जैसे कि हाथियोंको आकर सिंह सुशोभित होता है, इसी तरह सिद्ध भगवानका ध्यान करनेमे कर्म नष्ट होकर आत्मा अपने स्वरूपसे सुशोभित होता है । इस प्रकारानुसार स्वरो और व्यञ्जनोंके द्वारा सिद्ध भगवानकी स्थापना [illegible] किया गया है । आगे इस सिद्ध परमात्माके स्वरूपको स्मरण किया जाता है—

ही मनुष्य मान लें तो बालकपन खतम होते ही मनुष्यपना नष्ट हो जाना चाहिये, सो होता नहीं। इसी तरह युवा और वृद्धको ही मनुष्य मान लें तो दूसरी अवस्थाओमे मनुष्यपना नही रहना चाहिये, सो होता नही। जैसे बालयुवा आदि सब अवस्थाओमे मनुष्य एक है इसी प्रकार जीवकी पर्याय मनुष्य तिर्यञ्चादिके रूपमे होती रहती है किन्तु जो मनुष्य है, देव है, नारकी व तिर्यञ्च है वह आत्मा नही है किन्तु जो सब दशाओमे रहता है वह एक आत्मा है। यह द्रव्यसे बताया, अब गुण और पर्यायसे बताते हैं।

गुण व पर्यायापेक्षया सहजसिद्धकी अभ्यर्चना—जीवका असाधारण स्वभाव ज्ञान सामान्य है और पुस्तकको जाना, मूर्तिको जाना, भगवानके शरीरको जाना आदि पर्यायज्ञान हैं, ये ज्ञानगुणकी पर्यायें हैं। आत्मा अनात्मा आदि जाना सो ये किसके परिणमन हैं? ये एक सामान्य ज्ञानस्वभावकी पर्यायें हैं। जिस एक ज्ञानकी विभूतियां चलती हैं वह ज्ञान सहज सिद्ध है। यह सहजसिद्धता गुणकी अपेक्षासे है। अब पर्यायापेक्षया सहज सिद्धता देखिये—गुप्ति समिति संयम पालकर सब विकल्पोंसे अतीत होकर जो कर्मोंसे रहित हो गये, निर्मलदशाको प्राप्त हो गये वे पर्यायकी अपेक्षा सहज सिद्ध हैं। तो पूजककी कभी पर-परमेष्ठी पूज्यकी ओर दृष्टि जाती तो कभी स्वकी ओर जाती। तो सारे विकल्पोंको हटाकर पूजक ध्रुव स्वभावके लक्ष्यमे पहुंच रहा है। जिसमे उस सामान्यस्वभावकी पूजा करता है। असली चीज जो सहजसिद्ध भगवान है उसमे दृष्टि न लगा, स्त्री, पुत्र और घर आदिमे ही मन लगा रहे तो ऐसी पूजा भक्तिकी सार्थकता क्या? भगवानकी भक्तिमे ममकारके भार द्वन्द फन्दसे रहित स्वभावकी दृष्टि और प्रवृत्ति आनी चाहिये। प्रतिदिन पूजा करके भी अपनेको सिद्ध बनानेकी भावना नहीं होती तो उसे क्या कहा जाय? दृष्टिकी किरण आत्माकी ओर जरूर आना चाहिये, पूजाकी यही सार्थकता है।

समरसैकसुधारसधारामें सहजसिद्ध प्रभुकी अभ्यर्चना—पूजक अपनी भावना व्यक्त कर रहा है कि मैं समतारसरूपी अमृतकी एक धारासे सहज सिद्ध भगवानकी पूजा करता हूं। यह दृष्टि स्वभावकी है। सुष्ठु दधाति इति सुधा, उत्तम पदमें जो धारण करे वह सुधा है। और रस्यते इति रस, अनुभवनमें जो आवे वह रस है। उत्तम पदमें धारण करानेवाली चीज क्या है? समता। सुधारस तो एक ही है, समग्र है, सहज सिद्ध स्वभाव स्वरूप है उसकी धारा अखण्ड है, विकल्परूप नहीं है। मीठी चीजसे थाली थाली भरना या धारा है। सो हे भगवन्! आप तो समरसमें रहते हैं, और मैं तो उसके एक धारामें रहना चाहता हूं। यह धारा कैसी है? अपने स्वरूपकी [illegible] लगी हुई है। किसीकी पूजाके योग्य भर थाल क्या है? कुछ नहीं। तब अपना हृदय ही आपको समर्पित करता हूं। यह है भो, सर्वोत्कृष्ट, पर [illegible] उसकी [illegible] नहीं कर सकता) क्योंकि सर्वोत्कृष्ट पात्र

पूजा है। ज्ञानसागर ऐसा रमणीक तत्त्व है जिसमें आनेपर और किसीकी आवश्यकता नहीं रहती। कभी देखा होगा कि ठंडके दिनोंमें तालाबके तटपर नहानेकी ठंडसे डरकर कोई बालक बैठा हो और पीछेसे कोई साथी उसे ढकेल दे और वह कूदकर तालाबमें जा पड़े तो फिर वहां उसकी ठंड भाग जाती है। ठंड मालूम नहीं पड़ती। तो स्वभावमें जानेको मोही बालक घबड़ाते हैं। कदाचित् कुछ समझमें आवे कि स्वभावमें बिना शांति न होगी। तो पहिले अनेक विकल्प उठनेसे शुभोपयोग छोड़ शुद्धोपयोगमें आना बड़ा गहरा मालूम पड़ता, शुभोपयोगमें ही ठहर कर रह जाता, किन्तु जब एक बार भी स्वरूपमें प्रवेश करनेकी रुचि और दृढ़ता आई कि झटसे अपनी स्थितिमें पहुँच गया। समतारसमें गोता लगाने लगा। देखो भैया! पूजा करनेपर भी समता नहीं आई, विषयता बनी रही, मोहका परदा नहीं हटा, झगड़े टंटे बने रहे और भगवानसे कुछ चाह पूर्तिकी भावना बनी रही तो वास्तविक पूजा नहीं की। भगवानकी पूजा जिसने किसी आशासे की उसने कुदेवकी पूजा की। सामने वीतराग मुद्रा होते हुए भी कर्तृत्वपनेसे—रागी (इच्छाकी पूर्ति करना माननेसे) देव माननेसे। यह तो निम्नका सौदा है। एक ही वीतरागकी मूर्ति किसीके लिये देव और किसीके लिये कुदेव है। घरकी सारी आकुलताओंसे परेशान होकर शांति लाभके लिये मंदिरमें आये और समतारससे पूजा नहीं कर पाये तो क्या विशेषता पाई? हाँ, फिर भी इतनी विशेषता भी है ही कि वीतरागताकी श्रद्धा आनेका अवलम्बन तो मिलता है। स्वाध्याय, सामाजिक और तत्त्वचर्चाका अवसर तो मिलता है। लेकिन यह ध्यानमें आना चाहिए कि हम क्या करना है? हमें अपना रूप सिद्ध स्वरूपको प्रगट करना है। इसे की ही हम पूजा करते हैं। जैसे—किसीके हाथमें हीरा हो लेकिन समझ यह रहा हो कि यह कांच है तो बुद्धिमें परख होते हुये भी हाथ खाली नहीं है। इसी प्रकार जिसे हम मनिक द्वारा देखते हैं, उसकी यथार्थ समझ नहीं आनेपर भी हम हाथके खाली नहीं हैं, बुद्धिके खाली हैं। बुद्धिके तो भरे ही भरन हैं।

सहजसिद्धा सहजभावसे परिपूजन—सारांश यह है कि हम अवलम्बन तो अच्छा पकड़ना ही चाहिये, बुरे अवलम्बनोंको अपनाते रहें और अच्छेका दूर मोचन रहें यह तो उचित नहीं है। हम मंदिर जाएं और अवश्य जाएं। लेकिन उस स्थानकी पवित्रता और महत्ताको भी ध्यानमें लें, उसकी पवित्रता और महत्ता वीतरागदेवकी स्थापनानिक्षेप रूप फिर मूर्तिके कारण है और उस मूर्तिकी भी महत्ता वीतराग सर्वज्ञकी आप्त परमात्माके है और उनकी भी महत्ता हमारे सारके लिये हमारी निमित्त मात्र है और हमारा उद्देश्य भी इस मंदिर इन सब साधनोंके जुटानेका और परमात्माको हृदयमें रखके सारा का यही है कि हम अपने परमात्माको प्रकट कर सकें। वास्तविकता हम सदा सहजभाव

बनाया, ज्ञान भगवानको हृदयमें लाये वस्तुतः उसीकी पूजा होती है। हर एक पदार्थमें शब्द अर्थ और ज्ञानकी विशेषतासे ३ भेद हो जाते हैं। उसी तरह यहां भी ३ तरहके भगवानमें ज्ञान भगवानकी पूजा होनेका भाव लेना और आश्रय कर्ममुक्तसिद्ध अर्थ भगवानको बनाना। वास्तवमें अर्थ भगवानकी कल्पनासे भी आगे बढ़कर भक्त ज्ञानभगवानकी पूजा करता है, पूजनेमें यही आता। किस किस उच्च रूपमें आया, यह अपनी अपनी योग्यता ज्ञानकी निर्मलतापर निर्भर है।

सहजसिद्धका सहज सन्निधिकरण—देखो भैया! अब अवतर अवतर कहते हैं तो क्या सिद्धशिलासे भगवान उतर कर यहां आते हैं? अथवा डूबे हैं सो उतरन को कहते? नहीं यह हमारा ही आत्मा विकारोंमें डूबा हुआ है, उससे निकलनेको अथवा अपनी वृत्ति जो बाहिर है सो बाह्यसे हटाकर अपनेको अपने पास अपने आपमें लानेकी भावना की जाती है। और तिष्ठ तिष्ठका भी ऐसा ही मतलब लेना कि जो आत्मा परभावोंमें बैठा है उसे वहां से हटाकर निज उपयोगमें ही बैठाना है। सन्निधिकरणका भी यही भाव है कि हम अपने भगवानका साथ न छूटे। अनन्तकालसे जो संसारमें घूम रहा है और परभावोंसे परपदार्थोंसे साथ बना रखा है वह साथ छूट कर स्वका ही साथ रहे, स्वसमयरूप वृत्ति रहे किन्तु यह सब बात भगवानको बुलाने बैठानेके भावसे शीघ्र होती है। श्रावकके तो जगतमें पैदा होने वाले और बाजारोंमें बिकने वाले चन्दनसे ऐसे भगवानकी पूजा नहीं होती, यह तो होती है निर्मल भावापन्न शीतल आत्मद्रव्यसे। इसी चन्दनकी पूजासे भगवान प्रसन्न होते हैं। कौन भगवान? निज चैतन्य भगवान। कर्मसिद्ध भगवान तो प्रसन्न—निर्मल हुआ के लिये हैं ही, लेकिन हमारे भगवानकी वर्तमान प्रसन्नता हो तो भविष्यमें भी उस प्रसन्नताका उदय रह सकता है। निर्मल परिणामोंके द्वारा तो निजका ही भगवान खुश होता है। अपनी ही गलतीसे रागी, द्वेषी, मोही बन रहे हैं, कितनी बुरी दशा कर रहे हैं अपने भगवानकी? उसपर दृष्टिपात कर अपने ही भगवानको प्रसन्न करना चाहिये। दूसरा कोई भगवान प्रसन्न नहीं होता। अन्य परमात्मा तो अपने लिये सभी प्रसन्न है। व्यवहारमें यह देखा जाता है कि किसीकी प्रशंसा कर दो तो खुश रहकर ही कामका लगा रहता है अनुकूल रहनेमें। सो जब यह आत्मा अपना ही अनुकूल चलेगा तो यह अवश्य प्रसन्न होगा। इसके लिये परिणामोंको निर्मल रखना है जो कि चिन्मात्रके ध्यानसे होता है।

अन्तस्तत्त्वकी भावनामें दृढ़ता—बार बार इस शुद्धस्वभावका आदर रखनेका नाम भाव है—यह एक आत्मा जो नाना परिणतियोंमें रहकर भी एक रहता है, जो नित्य है अर्थात् अनादि अनन्त और अहेतुक है, जबकि इसकी परिणतियां अनित्य—सादि सान्त और सहेतुक हैं, वह निर्विकल्प और [illegible] है तब कि परिणतियां निर्मित और [illegible]

बिगाड़नेका संकल्प विकल्प किया करता है ।

निज सहजतत्त्वकी रुचिमें सहज आनंदका सहज विकास—निज भगवानको जो पूजने वाला है वह है कषायरहित परिणाम, जिससे अनादिके लगे कर्म नष्ट हो जाते हैं उसे मैं सम्यक् प्रकारसे पूजता हूं । अरहंत और सिद्ध भगवान आप ही तो बनेंगे । अभीसे वह बनने का प्रोग्राम बनाओ तभी आगे उस रूप बन सकेंगे । उस चितस्वरूपमें प्रवेश कर आनंदका स्वाद तो यह गृहस्थीका आनन्द क्या है ? केवल दुःख है जिसे भ्रमसे आनन्द मान लेता है और साधुओंके बाहिरमें परिग्रहहीन भूख प्यासको सहने वाले मोही जीवोंकी नजरमें दुःखी मालूम पड़ते, लेकिन उनके अपूर्व आनन्दका स्वाद वह बिचारा क्या जाने ? उस जातिका आनन्द कभी लिया ही नहीं तो उसे ध्यानसे कैसे ला सके, उसका महत्त्व कैसे समझ सके ? मोही जीव जिस तरह धनी मानी बननेकी चाह करते हैं वैसे अच्छेमें अच्छा ज्ञानी बननेकी नहीं करते । जो ज्ञानकी रुचि करने लग जाते हैं उनका मोह मन्द पड़ता जाता है और चिदानन्द प्रगट होने लगता है ।

अनुपमगुणमयप्रभुका अलौकिक भावसे परिपूजन--अनुपमानगुणावलिनायक—जिनकी उपमा नहीं ऐसे गुणोंसे विशिष्ट सच्चिदानन्द भगवानको छुपी हुई जगहसे (स्वभावसे बैठे हुए) उठाकर शुद्धपर्यायरूपमें ले जाने वाले भगवानको या अव्यक्त अपने भगवानका सम्यक् प्रकारसे पूजता हूं । आत्मा ज्ञानानन्दमय है । अपने स्वरूपकी दृष्टि लगाने पर जो आनन्द आता है सो वैसा क्या बाहिरसे मिल सकता है ? नहीं । उस आत्मिक आनन्दमें ही निर्जरा होती और मोक्ष भी उसी आनन्दका अनुभव करनेसे होता है । यह आनन्द आत्मिक स्वाभाविक है, विपदाओंसे छूटनेके लिए इसे ही हासिल करना पड़ेगा और यह पुण्य और पाप, संपत्ति और विपत्तिमें जो अच्छा बुरा मानता हानि और लाभ विचारता वह ज्यादा अच्छा नहीं है उदारताके विचार नहीं हैं वे । संपत्ति विपत्ति तो समान ही हैं । नाग नाथ कहो या साप नाथ एक ही मतलब है । पुण्य और पाप दोनों कर्मके ही भेद हैं । इनके विकल्पोंको छोड़ अपनेको देखो । एक ब्राह्मणीके कई लड़के थे । एक दिन एक दाता ब्रह्मभोज के लिये एक लड़के का निमंत्रण करने आये । उन्होंने सोचा सबसे छोटे लड़केका निमंत्रण करो यह कम खाएगा, तो ब्राह्मणीसे बोला कि आज छोटे लड़केका निमंत्रण कर रहा हूँ । तब ब्राह्मणी कहती है कि छोटे का करो या बड़े का करो सो सब बराबर है अर्थात् सबा-सेर खाते हैं । सो भाई पुण्य और पाप दोनों संसारके ही कारण हैं, स भव नहीं और पुण्य से मिले वैभवमें सुखी होवे और विपदापड़ोसे उनके बाद तो यह नरकका ही कारण हो सकता है और पापके उदयमें तो दुःखी अपनेको मानता ही है ।

अलौकिक उपायसे अलौकिक देवकी अलौकिक उपासना—[illegible]

वालक सहजभावको आलंबन बनाते ही है। देखो यहाँ इन भव्य पुरुषोंके संवर तत्त्व और आस्रव तत्त्व एक ही साथ चल रहे हैं। निमित्तके आश्रयसे आस्रव तत्त्व, और स्वभावके आश्रयसे संवर तत्त्व हो रहा है। सहजभावकी दृष्टिमें संवर होता और पराश्रयकी दृष्टिमें आस्रव होता है। सो यहाँ जो सहजभाव है वह मूर्ति या गुरु आदिके अवलंबनसे लेने वाला सहजभाव नहीं है, किन्तु आत्माश्रित भावोंसे होने वाला सहजभाव है। तो ऐसे सहजभाव रूपी अत्यन्त निर्मल भावोंसे मैं पूजा करता हूँ। भक्त सोचता है कि हे भगवन! मैं आपको काहेसे पूजूँ? आप तो अपनी ही चीजमें पूजे जा सकते हैं। आपकी पूजाका साधन आप ही बन सकते हो। स्वाश्रितभाव सहज होते हैं पराश्रित भाव नहीं। क्योंकि पराश्रितभाव निमित्तकी दृष्टिमें होता है, सो हे भगवन्! अब मेरे निमित्तकी दृष्टि हटकर उपादानकी ओर गई है और सहजभाव जागृत हुआ है इससे ही आपके दर्शन कर सका हूँ, दूसरी दृष्टि रही आवे।

विपरीत आग्रहके अभावमें सम्यक् कार्यकी निष्पत्ति—परपदार्थ जो आत्मसत्तासे अत्यन्त जुदे हैं उनसे कुछ आशा करना सबसे बड़ी भूल है। दुःख किस बातका है? इसका कि हमसे जो न्यारे हैं उनकी वाञ्छा करते हैं, जो अपने नहीं हो सकते उनकी वाञ्छा न करें तो सुख ही सुख है। सुनते हैं कि सहारनपुरमें एक जैन रईसके घर हाथी था। पड़ोसमें दूसरेका जो घर था उस घर वालेका बच्चा एक दिन रूठ गया कि हमको हाथी खरीद दो, उसने लालाजी से यह सुनकर हाथी अपने दरवाजेपर बंधवा दिया और बच्चेसे कहा कि लो खरीद दिया हाथी। इसपर उसने हठ किया कि उसे हमारी जो डेलनकी लुटिया है उसमें बाँध दो, तो बतलाइये ऐसे हठका भी कोई उपाय है? जो सम्भव नहीं, हमारे अधिकारकी बात नहीं उसके लिये हम क्या कर सकते हैं? कुछ नहीं—सारे द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे परिणमते रहते हैं, सब द्रव्य ऐसे ही हैं। किसीका किसीपर भी वश नहीं। प्रत्येक आत्मा अपने आपसे परिणमन है लेकिन हम चाहते कि ऐसा परिणमे हमारे अनुकूल परिणमे, सो ऐसी वाञ्छा दुःखदाई है भूल भरी है, इस गलतीपर विचार करके ऐसे अभिप्रायको निर्मूल ही कर देना चाहिये। जिसे अपनी गलतीका पता नहीं वह अपने मार्गको कैसे पा सकेगा? दूसरे पदार्थोंको अपना माना यह भारी गलती रही। पूज्यका जब बोध होता है, तो उस सहज भावके प्रति अत्यन्त आदरका भाव रखता हुआ अपनी भावना व्यक्त करता है कि—अनुपरोध सुबोधनिधानकं—जिसका कोई उपरोध नहीं कर सकता ऐसे ज्ञानके निधानको मैं पूजता हूँ, सहजसिद्ध निज भगवान तो अनुपरोध सुबोध निधान है, अनादि अनन्त अपार सामान्यके स्वरूपका कोई भी प्रतिरोध नहीं कर सकता। व सिद्ध देव तो अत्यन्त प्रकट सम्पूर्णपने उपरोध रहित केवलज्ञान निधान है। सिद्ध प्रभु

मानता है। यह पराश्रित विकल्प ही पाप है। जितने भी पराश्रित भाव हैं उन सबने हमारे परमात्माका तिरस्कार किया है। भक्त अपनी भावना व्यक्त करता है कि हे भगवन्! अब प्राट हुआ, बहुत दिनों तक भटका दूसरोंके संगमें। मैं दूसरे पदार्थोंको नाथ मानता रहा किन्तु यह न जाना कि मैं स्वयं नाथ हूं। अपने अपने जीवनमें देख लो। कल जो था आज वह न रहा, आज जो है कल वही स्वप्न हो जायगा। तो ऐसे पदार्थोमें आदर रखना हित-कर कब हो सकता है?

स्वयकी पारमार्थिक महत्ताकी श्रद्धामें महान कार्यका उद्भावन—एक दम्पतिमें पति दुराचारी था। एक दिन पत्नीने कहा—एक बटरिया देकर कि लो आप इसकी रोज पूजा किया करो व सिर्फ २४ घन्टेको पाप छोड दिया करो। उसे पत्नी की सीख लग गई और उसने प्रतिज्ञा की कि प्रतिदिन पूजा करनेके बाद ही भोजन करूंगा तथा यह भी प्रतिज्ञा की कि पूजा कर चुकनेपर २४ घन्टेके लिये पाप छोड दिया करूंगा। इन नियमोंको वह दृढता पूर्वक चलाने लगा। एक दिन क्या हुआ कि जिस पत्थरको वह देवता मानकर पूजता था उसपर चूहा फिर रहा था। उसने विचार किया कि पत्थरके देवतासे तो चूहा देवता बडा है। तब उसने चूहेको पूजना प्रारम्भ किया। जहां कहीं वह दिखता उसे अर्घ और फूल चढा पूजनका नियम पूरा करता। एक दिन चूहेपर बिल्लीको झपटते हुये देखा तो चूहेसे बडा बिल्लीको मानने लगा और उसकी पूजा करनी शुरू कर दी। बिल्लीपर भी एक दिन कुत्ता झपटा और यह देख उसने बिल्लीसे बडा कुत्तेको समझकर उसको पूजने लगा। एक दिन कुत्तेने घरमें कुछ नुकसान कर दिया जिससे उसकी स्त्रीने उसे २-३ डन्डे जमाये। यह देख उसने कुत्तेसे बडा अपनी स्त्रीको ही समझा और उसे पूजना शुरू किया। किसी समय पति और पत्नीमें चखचख हुई और गुस्सेमें आ उसने स्त्रीको दो चार चांटे लगा दिये। तब उसे ख्याल आया कि स्त्रीसे बडा तो मैं स्वयं हूं और उस दिनसे अपनी पूजा करने लगा। उसे अपने बडप्पनका ख्याल आनेसे अपने कर्तव्योंको पूरी तरह पालने लगा। तो परम आपको जो समझता है वही निराकुल हो सकता है। आपको अपने आपमें ही पाना पड़ेगा। अपनेमें ही शांति आयेगी। जो दूसरोंको अनुकूल बनानेकी चेष्टा करता है वह कभी सुखी नहीं रह सकता। तो ऐसे सर्वविकल्पोंसे रहित स्वाश्रित भावके प्रकट सिद्ध भगवानकी या स्वभावसिद्ध निज भगवानकी मैं पूजा करता हूं।

समयसारसुपुष्पसुमालया सहजकर्मकरेण विशोधया।
परमयोगबलेन वशीकृतं सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

समयसारपुष्पमालासे सहजसिद्धका परिपूजन—मैं समयसारके उत्तम पुष्पोंकी मालासे सहज-सिद्ध भगवानकी पूजा करता हूं। यहाँ परम भगवान [illegible] समयसार और पुरुष [illegible]

कैसे है ? 'निरवधिप्रचुरात्मगुणालयं' मर्यादासे बाहिर सीमासे अतीत विपुल आत्मगुणोके भण्डार है। आत्माके वे अनन्त गुण पृथक्-पृथक् नही है। वे गुण आत्मारूपी घरमें बसते हो, सो नहीं। वे तो तन्मय होकर एकाकाररूपसे है। गुणोसे भिन्न गुणी कोई चीज नही और गुणीसे भिन्न गुण कोई चीज नही। बोलनेमें वैसा आना समझानेके लिये है। परन्तु आत्मा ऐसा अलग अलग गुण वाला नही है। जब तक इन परिणामोकी पहिचान नही अलग-अलग मति नही कराई जाती तब तक बनका ज्ञान नही होता। अतः भेदरूप कथन करके आत्मा की प्रतीति कराते है—जैसे मलेच्छको स्वस्ति कहा गया तो वह कहनेवाले मुँहकी तरफ मेंढककी तरह देखने लगा। लेकिन जब उसे समझाया गया कि स्वस्ति माने है तुम्हारा भला हो, तुम सुखी रहो। जब यह अर्थ समझो तो पुलकित वदन हो गया। इसी तरह अभेद स्वभावरूप चिन्मात्र आत्मतत्त्वको जगतके प्राणियोके लिये समझानेको यह भेद-रूप कथन किया जाता है। आत्मा ब्रह्म—इतना ही कहते चले जाये तो वे निश्चय उपदेश उसे समझा नही सकते किंतु जब भेद और अभेद, निश्चय और व्यवहार दोनोको कहनेवाला ज्ञानी आचार्य जो पर्याय और द्रव्यको भले प्रकार समझते है वे जब संसारी प्राणीको समझाते है कि अमुक अमुक पर्यायें हैं, उन पर्यायोमे रहने वाला एक ज्ञाता दृष्टा आत्मा है तो उसकी समझमे बैठ जाता। तो अनन्त गुणोसे अभिन्न सहज सिद्ध भगवानको मैं भले प्रकार पूजता हू। यहा यह अन्तरात्मा जो कि तुलनाके विषयरूप दोनोंपर दृष्टि पहुंचाता है, कभी व्यक्त रूप सहज सिद्ध कर्ममुक्त परमात्मापर और कभी शक्तिरूप परमात्मापर दृष्टि देता है। आत्मस्वभावकी कसौटीपर व्यक्तरूप परमात्मा और शक्तिरूप परमात्मा दोनोको कसता है, तब अपने अनाकुलस्वभावमे लीन हो जाता है। यही भगवानकी पूजा है। ऐसी पूजा महान आनन्दरूप है। जब तक वह अपूर्व आनन्द न आ पावे तब तक उसकी पूजा नही हो पाती।

परमार्थपरिपूजनका महत्त्व—मन वचन और कायकी जो शुभ क्रिया होती है वह अशुभ परिणामोके नहीं आनेसे है। अथवा जो शुभ क्रिया की जाती है वह अशुभसे बचनेके लिये की जाती है। इस प्रकार मैं उस अशुभरूप निम्नमार्गसे निर्वृत्त होकर मध्यम मार्गसे, शुभोपयोगसे उस सहजसिद्धकी पूजा करता हू। किन्तु यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि वास्तवमें जब तक शुभविकल्प भी रहेंगे तब तक सहज सिद्धकी पूजा न होगी। उन विकल्पो से परीत उन विकल्पों द्वारा कहा जाने वाला विचारा जाने वाला चैतन्यतत्त्व ही जब निर्विकल्प अनुभवमें आता है तब स्वभावसिद्ध चैतन्य देवताकी पूजा होती है। जब बच्चा बड़ा होता है तब उसे खिलौने आदिसे बहला कर बड़ा अपने काममे लग जाता है। बच्चों की तरह ये मन वचन कायके व्यापार भी हमें परेशान कर रहे हैं, सो उन्हे शुभोपयोगके

कार्यरूपी मेलोंमें—भगवानकी मूर्तिके अवलम्बनसे पूजा की द्रव्य और स्तोत्र भजन नमस्कार आदिम क्या, वहाँ क्या आशय है ? उनके बहाने हम भी कोई सुन्दर निज क्षण पाते ही मगन (चैतन्य अनुभवके) कार्यमें लग सकें यह पूजकका अभिप्राय होता है। पूजा पुण्यबन्ध ही कराती है यह एकान्त बात नहीं है। पूजा करनेवाला जब पूजाका आधार सहजसिद्ध परमात्माको बनाता है तब वहाँ शुद्धोपयोगके स्पर्श होते ही वह संवर और निर्जराका कारण भी होता है। जैसे व्रत तपादिको बन्धका कारण कहा। सो वहाँ भी जब बाह्य विरति होकर स्वमें रति होती है तब संवर और निर्जरा होती है। मोक्षमार्गमें इस सहज अध्यात्मप्रयोगके बिना संवर और निर्जरा नहीं होती और फिर बिना संवर और निर्जराके मोक्ष भी कैसे हो ? अन्त बीचमें ये पूजादि व्यवहारसे हमारे कल्याण साधक होते हैं। ठीक इसी तरह सहजसिद्ध भगवान्की पूजा भी संवर और निर्जराका कारण बनती है। ऐसा इसका महात्म्य है ऐसी पूजा कोई विरला मुमुक्षु ही करता है।

सहजरत्नरुचिप्रतिदीपकैं रुचिविभूतितम प्रविनाशनैं।
निरवधिस्वविकाशविकाशनै सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

सहजरत्नरुचिप्रदीप सहजसिद्धका परिपूजन—मैं ऐसे दीपकके द्वारा सहजसिद्धको पूजता हूँ जो कि सहजरुचिको दीप्त करने वाला है, वह दीपक कौनसा है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी रत्न यह रत्नत्रय रूपी दीपक अनादि अनन्त और सहज सिद्ध है। अनन्तके प्राणियोंकी रुचि जड़ रत्नोंमें रही। रत्नसार चीजको कहते हैं। सो मोही जीवोंने जड़का रत्न समझा, किन्तु सिद्धभगवानकी पूजा हम उन जड़रत्नोंसे नहीं कर सकते। वह तो सहज उपयोगको ही प्राप्त करने वाले रत्नोंसे होती है। ये रत्न सबसे हैं जबकि यह आत्मा है। जब अभेद दृष्टि करें तो शक्तिमान और जब भेद दृष्टिसे कहें तब शक्तियोंको कहा जाता है। सबसे बड़ी शक्ति भगवानकी यह है जो उनके स्वरूप में और उनके बताये हुये तत्त्वोंके आचरणमें होती है। मोही जीव सहजभावमें तो रुचि नहीं करता। सम्पूर्ण बाह्यद्रव्योंका परिणमन स्वयं नहीं और स्वयं परिणमन उसमें नहीं ऐसा अनुभव नहीं करता। सो बाह्य पदार्थोंमें तो कोई रति अरति नहीं कर सकता, अपने स्वाभिमानके विकल्प ही करता है। यदि कोई किसीका परिणमन करता होता तो संसार में किसी पदार्थका अस्तित्व ही न रह जाता। स्वयं अनुभव और पौराणिक कथायें इस का, कौन किसका क्या करता है ? सब अपना काम खुद कर रहे हैं।

स्वार्थसाधनाका एक दिग्दर्शन—राम और सीताका प्रेम प्रसिद्ध कहा जाता था, लेकिन अपने मनकी शान्तिके लिये सीताको जंगलमें छुड़वा दिया ... जब कि वह उन दिनों गर्भवती थी। ...

साधारण पुरुष ऐसा दंभ करे तो करे लेकिन लोकोत्तर महापुरुष ऐसा करे तो उसे क्या कहा जाय ? उस समयके उनके कषायकी (उस जाति की) ही बात इसमे कारण समझना चाहिये । पीछे अविनाश रहा सो प्रशंसा हो रही कि मर्यादा पाली थी । कहाँ रहा वह प्रेम ? जव जंगलमें सीताको रथके उतारकर रथवाहक कृतांतवक्र उनको रामके परित्यागकी वात कहता है तव सीता रामके प्रति प्रेमके वारेमे क्या भावनाएं करती होगी ? उसका मन कैसे भावभ्रमरमे डूव और उखर रहा होगा ? जव कृतांतवक्र सीताको उनके परित्यागका कारण वताता है कि लोगोके कहनेसे स्वामीने यह कठोरता अपनाई है तो सीता रामको संदेशा देती है कि रामसे कह देना 'जैसा लोगोके कहनेसे आपने मुझे छोड दिया है उसी तरह लोगोके कहनेसे धर्म नही छोड देना ।' वहुत समय वाद सीताके गर्भसे पैदा हुए लव और अंकुश रामसे युद्ध ठानते है, तव रामके उन पुत्रोके भावोपर विचार कीजिये, आखिर राम पिता ही तो थे लेकिन सीता मांके पक्षकी कषायने रामसे युद्ध कराया । इसके पश्चात् रामके कहनेपर ही सीता जव राजसभामे आई तव राम भर्त्सना कर कहते है—सीते ! तुम्हे यहाँ आते लज्जा नही आती ? तुम्हे जङ्गलमे छुडवा दिया गया था । अव इस घरमे आनेका अधिकार तभी मिल सकता है जव अपने शीलकी परीक्षा दे लो ।

परमार्थस्वार्थसाधनाका एक चित्रण—अनुमान लगाया जा सकता है कि रामका सीताशीलपरीक्षणकी आज्ञाका उस भरी सभामे सीताके लिये कितना आघातकर हुआ होगा ? कहाँ गया वह रामका प्रेम ? संसारके चरित्रको विचारिये । सीता उत्तर देती है कि पहिले मैंने समझा था कि आपका हृदय तो कोमल ही है लेकिन प्रजाकी मर्यादाका ख्याल करके आपने मुझे वनवास दिया था, हृदयको वरवस कठोर वनाया था लेकिन आज मै देख रही हूं कि आपका हृदय सचमुचमे कठोर हो गया है । और आप जिस तरहसे भी मेरे शीलकी परीक्षा लेना चाहे मैं परीक्षा देनेके लिये तैयार हू । विप खाकर, अग्निमे कूदकर जैसी भी आपकी आज्ञा हो । रामने अग्नि परीक्षा देनेका निर्णय किया । अग्निकुण्ड तैयार कराया गया । सीता पंचपरमेष्ठीका स्मरण करके यह कहती हुई कि यदि मैंने मन वचन या कायसे परपुरुषसे प्रेम किया हो तो हे अग्नि ! मुझे भस्म कर देना । सीताकी श्रद्धा और धैर्यको देखिये । इस प्रसंगपर उसके मनमे कितना वैराग्य वढा होगा ? केवलीकी पूजाके लिये जाते हुए देवने उसने यह अग्नि परीक्षणका दृश्य देखा और उसके भाव हुए कि सीता निर्दोष है । इसको दाग न लगे, इसलिये इसकी रक्षा करना कर्तव्य है और अग्निकुण्डको सरोवर बना दिया । देवने क्या किया ? सीताके पुण्यने यह माहात्म्य प्रगट किया । परीक्षा हो चुकने पर राम सीतासे विनयपूर्वक घरमे प्रवेश करनेका निवेदन करते है, लेकिन सीताको इसपर ममत्व ही न रहा और वैराग्यमें सती पंचमुष्टि लोचकर आर्या वन गई । राम मूर्छित हो

आवेगी ? तो द्रव्यमे पर्यायें व्यक्त होती है उस द्रव्यको पहिचानना सम्यक् ज्ञान है। यह बड़ी भारी खोज है, यही एक आध्यात्मिकता है। मै जिस सहजसिद्धको पूजता हूं वह सम्यक् ज्ञानसे परिपूर्ण है। क्षायिकभाव आत्माका पूर्ण विकास है, यह विकास कर्मके कारणसे नही होता, अपनी शक्तिके विकाससे ही होता है, अविकास होनेमे वे निमित्त थे, इसलिये अब क्षयके रूपमे निमित्त कहे जाते है। बस अपने सहजस्वभावको देखते रहने से ही अपने आपही शक्तियोंका विकास हो जाता है।

ज्ञानपुञ्ज परमात्मत्वकी अभ्यर्चना—सभी परमात्माके अंश है, यह जो कहा जाता है सो तिर्यग्रूप नही, किन्तु प्रत्येक आत्मा ज्ञान दर्शन गुणमय है। उस आंशिक विकासके कारण अथवा उपचारेण जातिसे परमात्माका अंश अथवा परमात्माकी जातिका कहा जाता है। परमात्मा ज्ञानमय है और हमारे भी ज्ञानके अंश प्रगट होते है इसलिये परमात्माके अंश कहलाते है और जब पूर्णज्ञान प्रगट हो जाता है तब परमात्मा कहलाने लगते है। परमात्मामे मुक्त हुआ आत्मा मिल जाता है, ऐसा जो कहा जाता है सो इस तरह जैसे कि किसीको अमुक गोष्ठीमे पहुंचनेपर उसमे मिल जाना कहा जाता है। यह आत्मा अपने विकारोको दूरकर शुद्धरूप जब प्रगट कर लेता है तो पूर्वमे हुए जो सिद्ध है उनके ही समकक्ष हो जाता है। कोई भी गुण न्यूनाधिक नही होता, अत. एकरूप एक जाति और एक सिद्ध शिलाका स्थान सब सिद्धोका लेनेसे मिल जाता है। मुक्तात्मा अन्य मुक्तात्माके स्थानमे मिल जाता है ऐसा समझना चाहिये। सो ऐसे प्रगट परमात्माको वा स्वभावसिद्ध निज आत्माको शुद्धज्ञानरूप दीपकसे पूजता हू। पूजाका यही महत्त्व है, आत्मनिर्मलताका भाव उनमे प्रधान है, भक्तिका लक्ष्य केवल यही है। अन्यथा न तो भगवान खुश होकर हमको कुछ दे देते और न हमारा कोई प्रयोजन भी रह जाता जो कि उचित और श्लाघनीय कहा जा सके।

निजगुणाक्षयरूपसुधूपनैः, स्वगुणघातिमलप्रविनाशनैः।
विशदबोधसुदीर्घसुखात्मकं, सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

परमार्थतः स्वपूजाकी शक्यता—मैं अपने अक्षय गुणरूप सुधूपसे पूजा करता हू। भगवान बाह्यदृष्टिसे वा बाह्यपदार्थसे नही पूजे जाते। अपना सहजसिद्ध-भगवान अपनी ही दृष्टिसे पूजा जा रहा है। भगवानको पूजना औपचारिक कथन है, क्योकि अपने से भिन्न पदार्थका काम कोई नही कर पाता, अभिन्न ही करता है। जैसे—दूसरेसे प्रेम करनेकी जो बात कही जाती वह ठीक नही, वह अपने से ही प्रेम करता है, निमित्त (आश्रय) परका होता है। प्रेम चारित्रगुणकी विकारी पर्याय है, वह आत्माकी आत्मामे ही रहेगी। आत्मा के प्रदेशोमे ही रहेगी, परके द्रव्योके प्रदेशोमे नही। किन्तु वह पर्याय जिस ख्यालसे बनी है

ऐसा कहते हैं कि अमुकको प्रेम किया आदि। जैसे-किसीने पुत्रको प्रेम किया, यह कहा जाय तो समझना चाहिये कि उसने पुत्रको आश्रय कर अपनी रागपर्याय की। उसकी वह रागपर्याय अपने मे ही बनी, पुत्रमे नही। किन्तु पुत्रके आश्रयसे बनी इस लिये उसका कह देते हैं। शुद्ध वाक्यप्रयोग इसके लिये क्या है ? कि पुत्रको निमित्त पाकर अमुक पुरुष ने प्रेमपरिणमन किया। मैंने अमुकसे वैर किया यह वाक्यप्रयोग अशुद्ध है। शुद्ध प्रयोग यह होगा कि अमुकको निमित्त पाकर मैंने अपनेमे वैर किया। अमुक स्त्री पतिमे मोह करती है, इसका तथ्यदर्शक प्रयोग होगा कि अमुक स्त्री पतिको निमित्त करके मोही बन रही है। यदि इस तरह शुद्ध वाक्योंका प्रयोग जीवनमे होने लगे तो बहुतसी बुराइयां दूर होती चली जाए। किन्तु व्यवहारमे ऐसा बोलनेमे अटपटासा लगता है, इसलिये निमित्तके प्रति कर्तृत्वके रूपमे बोलते हैं। ऐसा बोलनेपर भी यदि प्रतीतिमे यथार्थता हो तो भी विशेष हानि नही है किन्तु अधिकतर प्राणियोंकी प्रतीति यथार्थ नहीं होती, परकर्तृत्वकी होती है। तो व्यवहारमे जो भाषा चलती है उसीको यदि ठीक मान लें तो वस्तुकी स्थिति ओझल हो जाय।

स्वयमें स्वयका कर्तृत्व व भोक्तृत्व—व्यक्ति अपने आपको प्रेम और द्वेष करता है किसी को अच्छा या बुरा क्या करेगा ? तो जो विकार करेगा तो उसका फल किसे मिलेगा ? उसीको मिलेगा। उसके मनमे भी उस दर्जेकी आकुलता होगी, दुःख होगा परेशानियाँ होंगी, आगेके लिये दुःखकी परम्परा बना लेगा। मैं तो इसका ऐसा कर दूंगा यों। इसका अच्छा करूँगा, इसे हानि पहुंचाऊंगा आदि इतना कषाय की। उसने उस व्यक्ति ने अपना कितना बड़ा अहित किया ? दूसरेका तो वह कर ही क्या सकता है ? उसका परिणमन तो उसके द्वारा ही होगा, लेकिन हमने उसके प्रति जो रागद्वेषके परिणाम किये उनका फल तो हमको ही भोगना पड़ेगा, दूसरा न भोगेगा। दूसरेने मेरे साथ ऐसा बर्ताव किया इसलिये मुझे भी उसके साथ ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए आदि मानना ठीक नहीं है। किसी साधर्मी ने मेरी निंदा कर दी तो निंदा उसने अपने आपकी की, उसका बुरा फल उसे मिलेगा, उसके जो विकार पैदा हो गये संस्कार बने, उन भावोंके निमित्तसे उसके कर्मबन्धन भी उस तरहका होगा। और मेरी जो निन्दा की गई उसकी परिणतिमें मैं निमित्तभूत रहा, मेरा तो उसमे कुछ बिगाड़ सुधार नहीं। लेकिन मेरे अज्ञानका उस निमित्तभूत निंदा कषायका प्रसंग कर हो ऐसे कषायभावके निमित्तमें आये हुए कर्मोंके उदयका रहा, तब हम यदि उस विकार करने लगें तो वे निन्दावचन हमारे लिये निमित्त होंगे और हमारे विकारोंका जो परिणमन होगा वह हमारा उपादान होगा। तो निन्दा सुनकर हम कषाय भाव न लावें तो हानि किसकी है ? निंदा करनेवालेकी। और यदि हम भी कषाय

का निमित्त पाकर वह स्वयं बेहोश हो जाता है। बेहोशीकी परिणति उसकी स्वयंकी स्वयं से हुई, लेकिन निमित्त मोहनी धूल हुई। अथवा जैसे.—एक लड़का दूर खड़ा हुआ अपनी अंगुली को हिलाडुला करके दूसरे लडकों को चिडा रहा है। वह लड़का चिड़ा रहा है ऐसा जो कहा जाता है वह औपचारिक है। वास्तवमे बात ऐसी है कि लडकेकी अंगुलीकी क्रिया अंगुलीमे है उसके प्रदेशोसे बाहिर नही। प्रत्येक वस्तु अपने प्रदेशोंमें ही कुछ भी हरकत कर सकती है, अपने प्रदेशोसे बाहिर नही। तब दूसरे लड़केको उसने कैसे चिड़ाया ऐसा उपचार क्यो किया जाता? इस लिये कि लड़केमें उसी समय क्रोध और अहँकाररूप भाव हुए, उसके लिये निमित्त हुई सामने वाले लडकेकी अंगुली। यदि वह अपनी आत्मामे चिड़ने के भाव न बनावे तो सामने वाला लड़का या उसकी अंगुली उसे चिढानेमे असमर्थ होगी। तब चिड़नेकी क्रियामे वह स्वयं कारण कहलाया। उसीको भावका उसकी क्रियामे अन्वय-व्यतिरेक हुआ लडका वा उसकी अंगुली। ठीक इसी तरह संसारके सब पदार्थोकी व्यवस्था बन रही है। कर्म पुद्गल अपनेमे परिणमते, किन्तु जब वे उदयमे आते है तो उसी समय आत्मा उस तरहके विकल्प करता है, दोनोका एक ही समय निमित्तनैमित्तिक रूपसे होता। यदि यह बात समझमे आ जावे कि कोई द्रव्य किसी की परिणति नही करता मेरा असर मुझमे ही है—ऐसा विचार आ जावे तो स्वाश्रितदृष्टिकी शै सहजसिद्ध भगवानकी पूजा हो सकती है अन्यथा नही। अनन्त कालसे ऐसी पूजा नही कर पाया इसीलिये भव-भ्रमण चल रहा है। तो अपने अक्षयगुणोको घातने वाले जो मल (व्यवहारसे द्रव्य कर्मरूप और अशुद्धनिश्चयनयसे भाव कर्म रूप) है उनको नष्ट कर देने वाले भावरूप धूपसे मैं—विशदबोधमुदीर्घसुखात्मकं—निर्मल और विशाल ज्ञान तथा अनन्तसुखस्वरूप सहजसिद्ध भगवानकी पूजा करता हूं।

ज्ञानानन्दात्मक सहजसिद्धकी उपासना—आत्मामे यद्यपि अनन्त गुण है तो भी यहा ज्ञान और आनन्द—इन दो गुणोंको कहा है वह इसलिये कि आत्माके आकार प्रकार आदिसे उसका कुछ बनता बिगडता नही है। बिगडता है सुखमे विकार आनेसे और ज्ञानमे विकार या मन्दता आने से। आत्माके अनन्त गुणोमे सुख और ज्ञान—ये दो गुण मुख्य है। भगवान को अधिकतर वीतराग और विज्ञानी (सर्वज्ञ) के नामसे ही कहते है और उन दो में भी वीतरागताको प्रधानता देते क्योंकि आनन्द तो वीतरागतामे ही रहता, इसीलिये लोगोकी दृष्टि इसपर विशेष जाती और वीतरागता आने पर सर्वज्ञता तो आती ही है। इच्छा का अभाव होनेपर ज्ञान और दूसरे गुणोमे परिपूर्णता आ ही जाती है। चाह करनेसे सर्वज्ञता ओझल रहता जब कि चाह घटनेपर वह प्रगट होता है, इसकी यही पद्धति है। इस तरह अनन्त गुण या उनमे प्रधान पूर्णवीतरागता और सर्वज्ञतासे भरपूर सहजसिद्ध

भगवानकी मैं पूजा करता हू । सिद्धालयमे विराजमान भगवानको नाम आदि निक्षेपसे पूज लिया और अपने आपको मार्ग नही मिला, मोह नही गया, कषाय नही घटी तो स्वयको क्या लाभ हुआ ? तो उनका ख्याल करके अपने आपकी पूजा होती है । वस्तुत आत्माका सम्बन्ध प्रत्येक पदार्थसे ज्ञेय ज्ञायकका ही है । भगवानसे भी भक्तका यही सम्बन्ध है । जान लेना मात्र चेतनाका व्यापार होना चाहिये, उससे आगे बढकर उनमे अन्य कल्पनाए करना भूल है । लोक व्यवहारमे भी यह दृष्टि रखे कि बस पदार्थोंको जानना भर रहे । जान लिया कि यह दुष्ट है तो उसके साथ केवल इतना ही सम्बन्ध रखे, उससे और राग द्वेषके सम्बन्ध स्थापित न करे, तो वह सुखी रहेगा । सुखार्थीको प्रतिदिन निज चैतन्यप्रभुके दर्शन करना चाहिये । नियम सयम निजका प्रति लाभकारी है ।

ज्ञाता द्रष्टा रहनेमें सहज लाभ—एक साधुने एक सेठको भगवानके दर्शन करके भोजन करनेकी प्रतिज्ञा लेनेको कहा । सेठ इसे स्वीकार न कर सका । तब सुबह सरलतासे जिसके दर्शन हो सकते हैं उसके दर्शन करके रोटी खानेकी प्रतिज्ञा लेनेको कहा गया । सेठने यह प्रतिज्ञा ले ली और सेठ सामने कुम्हारके चदुआ भसेके दर्शन करके ही भोजन करने लगा । एक दिन कुम्हार उस चदुआ भसेको प्रभातमे जल्दी ही खदानपर मिट्टी खानेके लिये ले गया । सेठने जब उसके यहाँ दर्शन न पाये तो खदानपर भागता गया । वहाँ कुम्हारको जमीन खोदते खोदते सोनेसे भरा हडा मिला । मौकेकी बात, उसने इधर उधर देखा कि कोई देख तो नहीं रहा है कि इतनेमे ही सेठकी नजर चदुआ भसेपर पड़ी । बस उसका कहना था कि वह पीछे वापिस हो लिया । कुम्हारको शक हुआ कि सेठ जी ने यह सुवर्ण देख लिया है । उसने बुलाया सेठजी आइये तो सही । सेठजीने कहा हमने तो देख लिया । उसका मतलब था कि हमने भैसके दर्शन कर लिये और वह समझा कि धन देखनेकी बात कर रहे हैं । उसके बहुत बुलानेपर भी जब सेठजी नहीं लौटे तो मौका पाकर सोनेका वह हडा सेठजीके घर पर ले गया और उसने हिस्सा बाँटकर दिया और कहा कि किसीको इसकी खबर न पड़े, नहीं तो राजा यह धन आपके पास न रहने देगा । यह तो एक लौकिक नियमका फल था । यह तो उसे शल्य करनेवाला है परन्तु निज चैतन्यके दर्शन अपूर्व लाभकारी हैं । इस कहानी से केवल इतना साराश लेना कि ज्ञाताद्रष्टा रहना ही उत्तम है । झगडोमें और कल्पनाओंमें उलझना ठीक नहीं । हम किसीका कुछ नहीं कर सकते । कमाई करना, कुटुम्ब पालना आदि व्यवहारमें कहे जाते हैं वास्तवमे पुद्गलके अणु अणु और प्रदेश आत्माके अपनी अपनी परिणतिमे हैं । अपने अपने पुण्य पापसे सुखी दुःखी हैं । तो केवल ज्ञेय ज्ञायकका सम्बन्ध रखता हुआ पूज्य अनन्त सुख और ज्ञानसे परिपूर्ण सहजसिद्ध भगवानकी स्वरूपसिद्ध प्राप्त द्रव्य-पूजा करता हू ।

परमभावफलावलिसंपदा सहजभाव कुभावविशोधया ।
निजगुणास्फुरणात्मनिरंजनं, सहजसिद्धमहं परिपूजये ॥

मैं परमभावकी फल पंक्तिसे मैं सहजसिद्ध भगवानकी पूजा करता हूं। देखिये सहज सिद्धताके तथ्यपरिचयके लिये आप इन नयोके विषयोको अच्छी तरह समझ जाएं और हर एक बातोमे लगाएं। नय ४ है—१ परम शुद्ध निश्चयनय, २ शुद्ध निश्चयनय, ३ अशुद्ध निश्चयनय, ४ व्यवहारनय। (१) जहाँ द्वैत आवे वहाँ व्यवहारनय होता है। जैसे—जीव-कर्मके उदयसे रागी होता है, यहाँ दोका मेल बैठाया गया, दोका संग कहा गया। अतः वह व्यवहारनयका विषय हुआ। (२) अशुद्धनिश्चयनय—एकको ही कहना, लेकिन अशुद्ध पर्यायको कहना, जैसे— जीवके राग द्वेषादि भाव। यहाँ पर राग द्वेषको कर्मके निमित्तको न देखकर, नही कहकर आत्माके कहे गये, इस एकके वे विकारीभाव है। अतः अशुद्ध-निश्चयनयका विषय हुआ। (३) शुद्धनिश्चयनय—शुद्ध पर्यायको प्रधान करके कहता है। जैसे—भगवान शुद्ध हैं केवलज्ञानी हैं आदि। (४ परमशुद्ध निश्चयनय—द्रव्यको या एक स्वभावका विषय करता है। अनादिसे अनन्त काल तक एक स्वभावसे निश्चल एकको कहनेवाला जो नय है वह परमशुद्ध निश्चयनय है। तो सहजसिद्ध दो प्रकारके है—(१) परमशुद्ध निश्चयके विषयभूत और (२) शुद्ध निश्चयनयके विषयभूत। (१) सम्पूर्ण आत्माएं जो सारी हालतोमे स्वभावसे सिद्ध स्वरूप है, वे परमशुद्ध निश्चयनयके विषयभूत सहजसिद्ध हैं। (२) और जो कर्ममुक्त सिद्ध है वे शुद्धनिश्चयनयके विषयभूत सहजसिद्ध है।

निर्मलभावफलावलिसे सहजसिद्धकी उपासना—यहाँ सहजसिद्धकी पूजामे निर्मलभावो रूप फलकी पंक्तियोसे, पूजा करनेका जो भाव व्यक्त किया है वह शुद्ध निश्चय-नयमे परमशुद्ध निश्चयनयमे ऐसा भेद नही होता। निर्मल भाव रूप जो पर्याय है वह शुद्ध निश्चयनयकी चीज है। और हमारे जो भाव है वे अशुद्ध निश्चयनयकी चीज है। तो मैं निर्मल भावरूप फलोंके द्वारा हे सहजसिद्ध भगवन्! आपकी पूजा करता हूं। वह निर्मलभाव बनता कैसे है? सहजसिद्धकी दृष्टिमे निर्मलभाव बनता है। अर्थात् हे सहजसिद्ध! तेरी ही दृष्टिसे मिली दृष्टिसे आपकी पूजा करता हू। ग्रन्थरचना आदिमे भी यह पद्धति देखी जाती है कि लेखक अपने गुरुको जिसके द्वारा उसे ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह रचना उसे समर्पित करके कहता कि आपके द्वारा दिये गये ज्ञानके प्रतिफलरूप इसे आप ही ग्रहण करे। इसी तरह भक्त भगवानके प्रति कहता है कि आपके प्रसादसे प्राप्त हुए निर्मल भाव आपके लिये अर्पित करता हू। यहां कथन भेदरूप है किन्तु दृष्टि अभेदकी है। यहां पूजक स्वयं पूज्य और पूजारूप अभिन्नताकी भावना दर्शा रहा है। भेददृष्टिमे कर्म-मुक्त सहजसिद्ध (शुद्ध निश्चयनयके विषयभूत) भगवानको कहा जाता है। भगवानकी [illegible] हो कि जिससे हम भगवानको पूज सकें। फल अन्तिम दशाको

कहते हैं, तो ये जो परमभाव है ये भी द्रव्यमेसे द्रव्यके भावकी दृष्टिसे फलत है (निमलदशा मे आते हैं)। ये परिणाम एक समयमे अनेक नही होते। अत यहाँपर जो भावपलोकी ध्वनि कहा है उससे मतलब है अनेक समयोमे क्रमवर्ती होनवाले जो भाव हैं उनसे पूजा करता हू।

परमभावकी झाँकी—परम माने सर्वोत्कृष्ट। परा उत्कृष्ट, मा लक्ष्मी जहाँ हो वह परम कहलाता। लक्ष्मी किसे कहते है? लक्ष्मी चिह्नको कहते हैं। जिस परिणति (चिह्न) से आत्मा समझमे आवे उसे लक्ष्मी कहते हैं। जो वह लक्ष्मी आत्माके शुद्ध भावरूप कहलाई, वही परम उत्कृष्ट भी है। व्यवहारी लोग ऐसा भी कहा करते हैं कि 'यह भोजन परम सुखदाई है' आदि। सो यह उनका कहना उचित नही, क्योकि उनकी दृष्टि तो बाह्यमे होनेसे बाह्यपदार्थ ही परमसुखकारी मालूम पड रहे है। वस्तुत बाह्यपदार्थोमे या उनके भोग उपभोगमे सुख और फिर परम सुख है कहा? ऐसा मानना तो केवल भ्रम ही है। सर्वोत्कृष्ट चीज तो निर्मल भाव हैं जो सम्यग्ज्ञानसे बनते हैं। मोहमे उत्पन्न होनेवाला भाव निर्मल नहीं होता और न इसी लिये उसे सर्वोत्कृष्ट कह सकते। अपने आपको दुःखमे डालकर मोह के कारण दूसरेको सुखी करनेवाले परिणामको भी परम नहीं कह सकते और न उस आश्रयसे सुख लेनेको परम कह सकते। क्योकि वहा निर्मलता नही, ज्ञानकी अनुभूति नहीं। वहाँ तो मोहके कारण समता भाव हैं। तो जहाँ सम्यग्ज्ञान आ गया वहाँ परमतत्त्व आ गया, निर्मलता आ गई और उसीसे परमात्माकी पूजा होती है। कई लोग परमहंस शब्द विशेष व्यक्तिका बोध करते हैं लेकिन उससे सब प्रकारकी आत्माओंका बोध होता है। उसके तीन खड परम अहं, स करने पर क्रमसे परमात्मा अन्तरात्मा और बहिरात्माका बोध होता है, जिससे मुक्त और ससारी सभी प्रकारकी आत्माओंका ग्रहण हो जाता है। इस अर्थ मे परमहंस शब्दसे प्रत्येक जीव आ गये।

प्रत्येक आत्मामें परमात्मत्वज्योति—प्रत्येक जीव शक्तिरूपसे परमात्मा है। यदि ऐसा न माना जाय तो ६ के बदले ७ द्रव्य मानने पड़ेंगे और संख्या बढ़नेसे ही कोई लाभ नहीं किन्तु मुक्ति और मुक्तिका मार्ग नहीं बन सकेगा। यदि सब आत्माओंमे परमात्माकी शक्ति विद्यमान न हो तो कितनी भी साधना तपस्या करें वह [illegible] प्रकट हो जायगी, बन जायगी? शक्तिरूपमे वह विद्यमान है तभी तो [illegible] प्रकट होता है। केवल ज्ञानावरणकर्म जो माना गया है उसका अर्थ ही यह है कि जो केवलज्ञानको प्रकट न होने दे, ऐसा कर्म केवलज्ञानावरण कहलाता है। तो केवलज्ञानकी शक्ति [illegible] है तभी तो उसका आवरण होना बन सकेगा। अत आत्मामे जो केवलज्ञान [illegible] है, [illegible] तो इसी लिए कहलाता है कि उस आत्मामे परमात्मीय [illegible]

योग्यता नही है।

कुभावविशोधक फलसे सहजसिद्धकी उपासना—तो ज्ञानानुभूतिसे सम्पन्न वे परमभाव कैसे है और कैसे प्राप्त होते है ? सो कहते है कि 'सहजभाव कुभाव विशोधया' सहजभावोके बलसे कुभावोंको नष्ट करने वाले है, निर्मल भाव स्वाश्रित भाव है, अत सहज भाव है। वे कुभावोको दूरकर शुद्ध होने वाले जो सहज भाव है वे परमभाव है। कुभावोंको दूर करना या विशुद्ध करना इन दोनोका एक ही मतलब है। जैसे चौकेको शुद्ध करना, इसका दूसरा मतलब यह भी है कि उसके मैलेपन को अशुद्धि को दूर कर देना। किसी अशुद्ध पदार्थसे कोई भिड़ गया और नहाकर शुद्ध हो गया। ऐसा जो कहा जाता उसका यह भी मतलब है कि अशुद्ध पदार्थ भिड़नेसे जो अणु स्थूल या सूक्ष्मरूपमें लग गया था वह दूर हो गया। किसी चीजको शुद्ध करने का मतलब है कि उसमें जो मल आ गया जो कि स्वभावमें नही है परका निमित्त पाकर आया है या निमित्तरूप आया है उसे दूर कर देना। सारांश—यह है कि शुद्धका तात्पर्य है वस्तुको केवल स्वभावरूप बनाना। क्षमा क्या है ? क्रोध मलको हटा देना। क्षमा तो स्वाभाविकी शक्ति है। जब क्रोधरूप विभाव न होगा तो वह प्रगट ही है। इसी तरह मानरूप विभावके अभावमे स्वभावरूप मार्दव गुण प्रगट होता है। जो अपनी शानके लिये मान करते है वे इस बातको समझे कि जब नरक और तिर्यच गतिकी अवस्था प्राप्त होगी तब वहाँ शान कैसे रह सकेगी ? ऐसा विवेक करनेसे निर्मलता आती है और मानमलका अभाव होकर मार्दवगुण प्रगट होता है। इसी तरह आर्जव धर्म भी कपटके दूर होनेसे प्रगट होता है। मन वचन कायकी कुटिलता करनेसे जहाँ आत्मामे मलिनता आती है वहाँ इनकी सरलता रखनेसे निर्मलता आती है। कुटिलता तो कृत्रिम है उस कृत्रिमताको हटाया कि स्वाभाविक गुण प्रगट हो गया और लोभ कषाय छोड़ा कि शौचमें आ गया। सहजभाव होने पर कुभाव दूर होते और उसके दूर होने पर सहजभाव होते। जैसे—घड़े का विनाश और खपरियोका पैदा होना एक ही समयमे होता है इसी तरह मलिनपर्यायोका दूर होना और शुद्धपर्यायोका प्रगट होना एक ही समयमें होता है। ऐसे कुभावोको दूर कर सहज भावरूप परमभावोसे सहजसिद्धकी पूजा करता हू। कैसे सहज सिद्ध ? सो कहते है—

निजगुणस्फुरणात्मनिरञ्जन सहजसिद्धका अभिवन्दन—निजगुणस्फुरणात्मनिरंजनं-अपने ही गुणोंसे स्फुरायमान निर्मल जो आत्मा वही सहज भगवान हैं। स्वभावसे दोनो एक ही है। [illegible] है लेकिन कहने मे ऐसा ही आता है और समझनेमे भी ऐसा [illegible] लिये उसको भेद करके टुकड़े करके कहना पड़ता है। [illegible] होती है। जो अपने ही गुणोसे स्फुरायमान मलरहित

है। सो प्रसन्नताका अर्थ तो है निर्मलता परन्तु रूढिवश इन्द्रियजन्य मनोजन्य हर्षमे यह रूढ़ हो गया। यही कारण है कि किसीसे प्रसन्नताकी बात पूछी तो कहता—हाँ बच्चे सब अच्छे हैं, धन्धा ठीक चलता है, तबियत ठीक है आदि मलीनताकी बात कहता। परकी बात कहने से तो मलिनता हुई निर्मलता कैसे हुई ? किन्तु उन सासारिक सुखों वा उनके कारणोमें प्रसन्नताका जो व्यवहार चल पड़ा कि निर्मलतासे आनन्द प्राप्त है और सांसारिक सुख भी विकृत आनन्द है। अत. उसको भी प्रसन्नताके अर्थमे लेने लगे। तो जिन परमेष्ठीकी निर्मलतासे हमे मार्ग मिला, निर्मलता प्राप्त हुई, यद्यपि निर्मलता निजकी निजमेसे ही होती है, किन्तु वह निर्मल भगवानको जाननेसे होती, इसलिये उपचार करके उनसे निर्मलता हुई ऐसा कह देते, वस्तुत निर्मलता अपनेसे ही हुई। सो भगवानको जो मैं पूजता सो अपनेसे अपने को ही पूजता। और जलादि वाह्य द्रव्य जो है वे केवल अवलम्वनके लिये है, और द्रव्यको अर्पित करके हमारे त्यागरूप भाव होते, बहुमानके भाव पुष्ट होते, यह भी वाह्यद्रव्यके चढ़ाने की सार्थकता है।

पूजामें द्रव्य चढ़ानेकी उपयोगिता—जो आत्मस्वभावका ख्याल नही कर रहे, विषय-कषायमें मचल रहे है उनको वाह्य कुछ अवलम्वन लक्ष्यपर पहुंचनेके वीचमे आवश्यक होता है। अत: उनका आलम्वन लेकर पूजते। इस वाह्य आलम्वनमे लगनेके वाद कभी कभी ज्ञानानन्दका ख्याल आता रहे इसलिये तदनुरूप द्रव्यका सहारा लिया जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक द्रव्यको चढानेका प्रयोजक मन्त्र लक्ष्यका वोध कराने वाले होते है। जैसे जल चढानेका प्रयोजन कहा जन्म जरा और मृत्यु रूप कर्मोदयके मैलको दूर करना। क्योकि जल का काम मलको दूर करना है। चन्दन शीतलता करने वाला होता है, इसलिये उसमे संसार के तापको दूर कर देनेका रूपक घटाया। अक्षत कहते हैं अविनाशीको, सो चावलोंका नाम भी अक्षत है अत: उनको चढानेका प्रयोजन दिखाया अक्षयपदकी प्राप्ति। कामको नष्ट करने का प्रयोजन पुष्पसे दिखाया क्योंकि पुष्प कामवाण है, सो पुष्प त्यागसे कामनाशका प्रयोजन [illegible] उक्त सभी चीजें हमारे शोधके सहयोगी नही, सो सवका त्याग वताया क्षुधा को दूर करनेके लिये नैवेद्य होता है। सो वह न खाना पड़े क्षुधा रोग दूर हो जाय, इसके प्रयोजनसे नैवेद्य चढाते हैं त्यागते हैं। मोहरूपी अंधकार दूर करनेके लिये और ज्ञानका [illegible] प्रयोजनसे दीपक चढाते क्योंकि वह प्रकाश करनेवाला होता है। धूप जलाने [illegible] कर्मोको जलानेकी भावना करते। और मोक्षरूपी फलको [illegible] है। तथा इन आठो द्रव्योंको मिलाकर वनाये हुये अर्घसे अनर्घपद [illegible] है। [illegible] इन द्रव्योंके चढानेका कुछ उपादेय मेलका भाव न वैठाओ [illegible] नाम हो जाय। निश्चयसे तो भक्त

अपनेको पूजनेमें जो समर्थ है ऐसा विकास भाव उससे पूजनेका भाव प्रगट करता है। जैसे–कोई धनीको धनके लिये प्रसन्न किया जाता, ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये विद्वानको प्रसन्न किया जाता है, भगवान बननेके लिये और शुद्ध निश्चयके विषयभूत भगवानको पूजनेका भी उपचार ही है। वस्तुत भक्त अपनी ही भक्ति करता। भक्त भगवानको पूजकर चाहता क्या है? अपने भगवानको प्रगट करना चाहता है। निजमे उपयोग लगाकर अपना ही उपयोग किया। उपयोगका तो उपचार है।

उत्कृष्ट उपासककी उपासनापद्धति—सच्चे भक्तका यही एक प्रयोजन और कार्य है कि वह ससारसे अलिप्त रहता हुआ ससारके उच्छेदका कार्य करे, पूजा केवल मन्दिरमे ही होती हो यह बात न समझना। मन्दिरमे जिसने स्वरूपकी भाई, उधर दृष्टि पहुँचाई और कदाचित भगवानके स्वरूपका अनुभव भी किया, कर्ममुक्त भगवानके बहाने अपनेकी पूजा अपनी महानताकी तरफ दृष्टि दौडाई और उसका अनुभव किया क्या वह मन्दिरसे निकलते ही अपनेको भूल जानेकी भावना रखेगा? क्या उसको यह विश्वास है कि मन्दिरमे ही हमारी आत्मा भगवान रूपसे मानी जानी चाहिये, अनुभवकी जानी चाहिये? नही। वह त्रैकालिक स्वभाव शुद्ध भगवानकी त्रैकालिक स्वभावगत भावोंके लक्ष्यसे पूजा करता है। वास्तविक पूजा तो क्षणिक पर्यायोंमे एक अविरल निश्चल रहनेवाले सतचिद् आनन्दमय एक ज्ञाता दृष्टा परमात्माकी की जाती है। तब फिर मन्दिरके अतिरिक्त और समयोंमे वह अपनेको अन्य रूप माननेकी मूढ़ता कैसे कर सकता है? कदापि नहीं। यदि ऐसी बात नही आती तो पूजा भी नही हो पाती। वह तो सांसारिक कार्योंके समान वह भी लोकेषणाका एक कार्य होगा उसे करके भी यही लोकका वैभव या दूषित इच्छाकी पूर्ति चाही जायगी। अनादिसे कुछ ऐसा ही ढग चला आ रहा है जिससे जहाँके तहाँ बैठे हैं। ससार और ससारके दुखोंका अत नही हो पाया। वास्तविक पूजा एक बार भी हो गई होती तो ससारका गोरखधधा दूर हो गया होता। आयाम जब तक नहि न हो तब तक पूजा नही होती। आत्मासे प्रेम करने वाले बहुत कम होते हैं, कषायोंसे अपनी कषायोंसे प्रेम अधिकतर करते हैं अथवा उपचरित व्यवहारसे कहो तो मल मूत्रमय अपवित्र शरीरसे प्रेम करते।

मुमुक्षु द्वारा ससारोच्छेदका प्रतीकार—मुमुक्षुकी भावना कब रहती चाहिये कि [illegible] ससारका उच्छेद करके आत्मा धर्ममय कब और कैसे हो? भाई जब अपने ही लिए [illegible] मे हो तो पिता पुत्र और भाईके लिये कितनी बात कौन सोचे? [illegible] प्राणी ही सोचते है अपने लिये व दूसरोंके लिए। कोई [illegible] [illegible] [illegible]। कदाचित ऊपरी तौरपर कोई नाचे भी तो कब तक? जब तक कि उनकी [illegible] है

प्रतिकूल होने पर वे मोक्ष हितकी तो क्या, स्थूल सासारिक आरामकी बात भी नही सोच सकते । गृहस्थीका जंजाल ही ऐसा है कि कोई किसीका हित नही चाहता । वह हित जिससे आत्मतुष्टि प्राप्त होती है वे तो अपने लिये जैसी दूसरोके लिये सांसारिक बन्धनकी ही बात सोचते है । यदि ऐसी प्रतिकूलता न होती तो बडे बड़े पुरुष गृहवासका त्याग क्यो करते ? और बड़े छोटेकी बात ही क्या ? हर कोई घरमे रहता हुआ ही मोक्ष मार्गकी साधना करके मुक्त हो जाता । यो तो आंशिक साधन गृहवासमे भी बन सकते है, लेकिन यहा तो मुक्ति प्राप्ति की बात कर रहे है कि अन्ततोगत्वा गृहवास छोड़नेपर ही मुक्ति मिलती है । गृहवासका मतलब ही है विषयोमे फंसे रहना । यदि यह न हो तो वह गृहवास भी न कहलायेगा । घर बसाया भी जाता है इन्द्रियोकी तृप्तिके लिये । लेकिन मोक्षका इससे विरोध है, कहतेहैं—एक पन्थ दोई चले न पन्था, एक सुई दो सिये न कंथा । एक साथ नहि होत समाने, विषयभोग अरु मोक्षहि जाने ॥ अर्थात्—एक रास्तागीर एक बारमे एक ही रास्ता चल सकेगा, एक सुई एक समयमे एक ही कपड़ा सी सकेगी, इसी तरह हे बुद्धिमान मानव ! तेरे और भी काम एक समयमे एक एक ही हो सकेंगे । यह कभी नही हो सकता कि विषयभोगोमे भी फंसे रहे और मोक्ष भी चले जाएँ । दो में से कोई एक ही हो सकेगा । क्योंकि विषयभोग संसारका मार्ग है, उससे मोक्ष कैसे मिलेगा ? वह तो मिलेगा मोक्ष मार्गपर चलनेसे, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको अपनानेसे ।

ज्ञाननेत्रोद्घाटक चिन्तामणिज्ञानात्मक अनर्घ्यं अर्घ्यसे सहजसिद्धकी उपासना—पूजकके भाव अज्ञान नेत्रको खोल देने वाले आत्माके विकासरूप स्वच्छ होते है, ऐसे स्वच्छभाव वाला ही पूजाका पात्र है, अधिकारी है । ऐसा ही व्यक्ति पूजा करनेमे समर्थ होता है । भगवानकी पूजाके लिये [illegible] कोई और साधन नही बन सकता । तो किससे पूजते ? समीचीन जल, चदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोके द्वारा, श्लोकमे दीपकके [illegible] जो [illegible] शब्द दिया है वह मध्य दीपक है, अर्थात् उसका अन्वय आगे और पीछे सब द्रव्योमे लगाना, जिससे अर्थ निकलेगा समीचीन जल, समीचीन गंध, समीचीन अक्षत समीचीन पुष्प, समीचीन नैवेद्य, समीचीन दीप, समीचीन धूप और समीचीन फलोके द्वारा [illegible] पूजता हू । समीचीन जल आदिका विवेचन प्रत्येक द्रव्यके [illegible] द्रव्योमे सम्यक्रूपसे आत्माका शुद्ध भाव पडता है [illegible] नाना द्रव्यमे [illegible] दिये हैं तथा प्रकृत श्लोकमे भी [illegible] करने वाला पद आगे दिया है, वह है 'यश्चिता...विशुद्धभाव-[illegible] है ? चितामणि की तरह यह जो विशुद्ध, भाव, [illegible] आठ द्रव्योमे पूजता हूं ।

सर्वार्थसिद्धिरर वास्तविक चिन्तामणि—लोगोका कहना है कि चिंतामणिके द्वारा मनवांछित वस्तु मिलती है, लेकिन ऐसा वह पत्थरका टुकडा चिंतामणि कोई रत्न नहीं। तो फिर ग्रन्थोमे ऐसा उल्लेख क्यो मिलता ? कि—जाने सुरतर देव सुख, चिंतत चिंता रन। बिन जाने बिन चितये, धर्म सकल सुख दैन॥ इस धर्मभावनामे बतलाया कि चिंतामणि रत्न, चिंता (इच्छा) करने से सुख देता है, फिर आगे जो कहा कि धर्मसे तो बिना इच्छा किये ही सम्पूर्ण सुख मिलते है तो धर्मसे जब चिंतामणि रत्नका नाम अलग रखा तो वह आत्मभावोमे पृथक कोई जड वस्तु ही होना चाहिये ? परन्तु ऐसा जड रत्न क्या कुछ देनेके लिये समसमर्थ है। मुमुक्षुकी मनोकामनावो पूरी करनेमे वह असमर्थ है। ऐसा चिंतामणि तो आत्माका शुद्धभाव ही हो सकता है। चैतन्यका विकास ही वह है जो कि सर्वोत्तम वस्तुए प्रदान कर सकता है। और तुच्छ सासारिक लाभ तो स्वयमेव होते ही हैं, उनका तो प्रश्न ही क्या रह जाता है ? चैतन्यरूप चिंतामणिकी दृष्टि आनेपर उसकी चाह भी मर जाती है, या कहो तो केवल आत्मरुचि रह जाती है। सो उसे वह मिलता ही है। परको विचारने का वहाँ भाव नही है। यदि परके विचारका भाव उठे तो वहाँ शुद्ध चैतन्यरूप चिंतामणिका अभाव कहलाया। तो यह बात चैतन्यभावके लिये ठीक बैठ गई कि जो विचारो चिंतामणिसे वह मिल जायगा, पत्थरके चिंतामणिसे यह नहीं हो सकता, वह तो जड वस्तुको ही दे सकता है चैतन्यमे उसका प्रवेश नही।

विशुद्ध ज्ञानात्मक परमभावकी साक्षात् चिंतामणिरूपता—पत्थरके चिंतामणिसे जो मिलना बताया वह उपचारसे है, प्रत्येक चीज अपने अपने रूपसे अपनी जगहपर रहती है उसका क्या मिलना और क्या बिछुडना ? पुद्गलकी संयोगाधीन दृष्टिमे ही ऐसा मालूम पडता है, आत्माके लिये उससे क्या मिल सकता है ? कुछ भी नही। फिर भी जो चाह की जाती है, वह मोहमे की जाती है और उस चाहके अनुसार जो जड पदार्थोंका संयोग जब चिंतामणिसे हो जाता वह उसके शुभकर्मोदयके निमित्तसे होता है। इस जातिका शुभकर्म बध भी आत्मभावोंसे सर्वथा निरपेक्षपनेसे नहीं होता। व्यक्तिका ध्यान मोक्षकी तरफ [illegible] जातिका कर्म बधता है, उसमे जो ऊँचे दरजेकी शुभ क्रियाए होती हैं [illegible] उसका कुछ नहीं बधता है, लेकिन सम्यक्त्वयुक्त भावोमे उत्कृष्ट पुण्य फलदायी विशेष [illegible] होता है। अथवा किसी सम्यग्दृष्टिको पत्थरका चिंतामणि मिलता है [illegible] वर्तमानमे नगण्य है उसी तरह अतीतमे था, जब कि सम्यक्त्व साथ [illegible] इस जातिका शुभबध किया था, वह रत्न उसे चाहसे नही मिला किन्तु [illegible] भावोका प्रतिफल है। यहाँ तात्पर्य यह कि यहाँ [illegible] है, जो कि शुद्धस्वरूप है, उत्कृष्ट ज्ञानरूप है, शुद्ध चैतन्यरूप है। [illegible]

रूप चिंतामणि दृष्टिरूप हस्तमे प्राप्त होने पर कोई वाञ्छा ही नही रहती, इसलिये इस चिंतामणिसे सभी मिल गया। वस्तु मिलनेका फल इच्छाका अभाव है वह चैतन्यकी उपलब्धि वाले के पहिले ही हो गया।

स्वादु अगाधबोध अचलसहजसिद्धका संचर्चन—ऐसे उत्कृष्ट द्रव्यसे वैसे सहजसिद्ध की पूजा की जाती है ? सो कहते है 'सिद्ध स्वादुमगाधबोधमचलम्। जो स्वयंसिद्ध भगवान आत्मिक रसमे सने हुए है, जो स्वयं तथा कर्म वर्गणा आदिपर द्रव्योसे कभी चलायमान नहीं होते, सदा अपने ही रूपमे अपने ही प्रदेशोमें सदा स्थिर रहते। संसारी पर्यायमे भी जो मन वचन कायके परिस्पंदसे आत्मप्रदेशोका हलन चलन बतलाया वह उपचारसे है। निश्चयसे आत्माके प्रदेश पौद्गलिक परमाणुओ वा स्कंधोसे सदा अस्पृष्ट ही है, तो उनकी चंचलतासे उसमे चंचलता आना नही बनता। और चंचलताका लक्षण भी वहां क्या घटित किया जा सकता है ? स्वक्षेत्रकी चंचलता तो आत्मामे त्रिकाल कभी होती ही नही। अतः परम शुद्ध निश्चयनयके विषयभूत आत्मा (जिसमे संसारी आत्माका भी ग्रहण है) को भी उक्त सब विशेषण पहिले जैसा कहते आये लागू है। क्योकि इस पूजामे सिद्ध परमेष्ठीको अवलम्बन करके स्वयके सिद्धपरमात्माको पूजा जानेकी चेष्टा है, जो कि मुमुक्षुओके लिये दृष्टि द्वारा परम उपादेय अमृत रूप है। यहाँ जब निज सहजसिद्ध भगवानका वर्णन आवे तब परम पारिणामिक भावकी अपेक्षासे देखना। पर्याय परिणमनसे तो हम आप सबसे संसारी मलिन हैं, सिद्ध भगवानसे हममे बडा अन्तर है। परन्तु स्वभावदृष्टिमे यह सब कुछ भी अन्तर लक्ष्यमे नही है। सिद्ध भगवानके वह अगाध ज्ञान कितने पदार्थोको जानता ? तो कहते है कि लोक अलोकमे जो कुछ भी है उन सबको जानता। इतना ही नही उनके जो अनंतगुण हैं उन्हे भी जानता है, इतना ही नही उन गुणोंकी जो अनन्तानन्त पर्यायें है उन्हे भी जानता है, इतना ही नही उन पर्यायरूप एक एक गुणमे जो अनंत अविभाग प्रतिच्छेद है (गुणांश हैं) उन्हे भी जानता। इतना ही नहीं ऐसे अनंत लोक अलोक हो तो उन्हें भी [illegible] जान सकता है ऐसी शक्ति है उसमे। ऐसा ज्ञान जिनको हो गया ऐसे [illegible] भी [illegible] जानता और ऐसे अनत केवलज्ञानियोको भी वह जानता। ऐसा [illegible] जो सिद्ध परमात्मा है उसकी मै पूजा करता हूं। ऐसा ज्ञान स्वभाव शक्ति [illegible] किन्तु उसको प्रगट करनेके लिये उस निज ध्रुव स्वभावी [illegible] तब वह प्रगट होता है। इस अर्घके पदमे पूजनेके लिये शब्द [illegible] है—[illegible] उन सिद्धभगवानकी चर्चना अर्चना करते है [illegible] द्योतक है अर्थात् मै उन सिद्ध भगवानकी [illegible] द्रव्यादिक द्वारा ही मै पूजा नही करता

बल्कि उनमे तन्मय होकर उन्हे पूज रहा हू यह भाव हुआ उसका। अपने उपयोगमे उन को मिलाया जाय ऐसे भावोंमे सिद्ध भगवानकी पूजा होती है।

अष्टपूजामें आशीर्लात्मक प्रकरण—इस अर्घके बादमे आशीर्वादात्मक छद है—भगवान को आशीर्वाद देनेसे अपनेको ही स्वय आशीर्वाद प्राप्त करनेका मतलब है। तब प्रश्न होगा है कि उनको न कह कर सीधा अपनेसे ही अपनेको कह लें कि मैं अपनेको आशीर्वाद देता हू। तो ऐसा कहा नही जाता। लेकिन अर्थ होता ऐसा ही है। जैसे—झाई वाले स्थानमे आवाज इसीलिये करते कि वह प्रतिध्वनित होकर हमको ही सुनाई दे। भगवानकी आशीर्वादात्मक स्तुति करनेसे कोई दोष नही आता। भिखारी लखपति धनीको, अथवा और निम्नगुणस्थानी परमेष्ठीको आशीर्वादरूप भावना प्रगट करके उनके प्रति आदर या बहुमानके भाव व्यक्त करले। अत बडे ही छोटो को आशीर्वाद दें, यह एकान्त नही छोटे भी बडोंको प्रकारान्तर आशीर्वाद रूप आदर व्यक्त करते हैं।

त्रैलोक्येश्वरवन्दनीयचरणा, प्रापु श्रिय शाश्वतीम्।
यानाराध्यनिरुद्धचण्डमनस, सतोऽपि तीर्थकरा ॥
सत्सम्यक्त्वविबोधवीर्यविशदाव्याबाधताद्यैर्गुणैं।
र्युक्तास्तानिहतोष्टुवीमि सतत सिद्धान् विशुद्धोदयान् ॥

सहजसिद्ध पूजामें आशीर्लात्मक विधान—जिनकी आराधना करके भव्य आत्मा अविनाशी सुखको प्राप्त हुए ऐसे सिद्धको मैं प्रणाम करता हू। तीन लोकके ईश्वरोंके द्वारा वदनीय हैं चरण जिनके, ऐसे होकर शाश्वत सुखको प्राप्त हुए जीस मोक्षपर भव्य जीव शाश्वत सुखको प्राप्त नही होते, वे तीन लोकके ईश्वरो द्वारा पूज्य होकरके हान। वास्तवमे तो सहजसिद्ध भगवान जिनकी आराधनासे अविनाशी सुखको प्राप्त होते हैं वह तो महान् हैं ही, लेकिन जहाँ माध्यभावक भाव दूर हो गया ऐसे निर्विकल्प आराधनग निज सहजसिद्ध महान और भगवानके दर्शन होते हैं। इसके लिये मुक्त भगवानका स्मरण दगा जाता है। सिद्धदेव जो इस आत्मासे भिन्न हैं भक्त उनकी पूजा नही कर सकता। व तो व्यवहारसे पूजे जाते हैं, ऐसी बात है। जितने भी आज तक सिद्ध हुए हैं और अनन्तानन्त [illegible] हैं उनकी आज भी वही स्थिति है, कि ज्ञान स्वभावको उपादान रूपसे करके ज्ञान [illegible] रूपसे परिणम रहे है। और अरहन्त अवस्थामे पहिली अवस्थामे पृथक्त्ववितर्क और [illegible] वितर्क शुक्लध्यानमे हैं, वहाँ भी निजको उपादान करके परिणम रहे है [illegible] आजकल विदेह क्षेत्रमे पाये जाते हैं तथा जो श्रुतज्ञानसे स्वरूप परिणम रहे है तथा [illegible] भी नीचे गुणस्थानोमे, अप्रमत्त देशविरत और अविरत अवस्थामे हैं वे भी ([illegible] स्वभावको परिणम रहे है) यही काम कर रहे है। [illegible]

[illegible]मता। हम दूसरेसे सिद्ध बनकर नही परिणम सकते। कोई आत्मा किसी आत्माकी स्तुति वंदना नहीं कर सकता। जो अपने आपके ही आदरमे हो वे सिद्ध होते है। किन्तु कारणमे कार्यका उपचार करके कहा जाता कि सिद्धकी आराधनासे सिद्ध होते है। लोकमे बड़े पुरुषका जो सेवक होता वह है भी अनेक व्यक्तियो द्वारा आदर पाता है। फिर भी स्वामीके समान आदर नही पाता। किन्तु सिद्ध भगवानकी सेवा पूजामे यह बात नही है, सिद्धका पूजक सिद्धपदको प्राप्त हुए सिद्धोके समान इन्द्रो द्वारा पूजित होकर शाश्वत लक्ष्मी को प्राप्त होता है। विशुद्धज्ञानकी परिणतिमे आ जाना ही, शाश्वत् लक्ष्मीका प्राप्त होना है। इन विशुद्ध ज्ञानकी आराधना करके सिद्ध होते है। तो सिद्ध होनेमे पहिले तो त्रैलोक्य के ईश्वरो द्वारा वंदनीय हुए और शाश्वत श्रीको प्राप्त किया और पीछे निरुद्धचण्डमन हुए। जिस स्वामीकी कृपासे यह मन प्राप्त कर पाया उसे ही नष्ट करनेमे जो लगा है उसे कहते है नष्ट। लोकव्यवहारमे कहा जाता कि तुम बड़े दुष्ट हो, तो मन ऐसा ही नष्ट है। जिस सिद्धकी आराधना करके यह मन स्थिरताको प्राप्त हुआ, क्योकि चचल वस्तुका आश्रय लेकर तो मन रुक नही पाता, निश्चलका आश्रय लेकर कही निश्चल होता। तो निश्चलताके लिये निश्चल स्वरूप उस सिद्ध भगवानकी ही आराधना की जाती। उनके आश्रयसे उपयोगमे स्थिरता आती है, निश्चलता होती है। लौकिक पदार्थोमे भी मन रुकता है लेकिन ऐसा ऊपरी तौरपर देखनेसे मालूम पडता है किन्तु वहाँ रुकता नही, निश्चल नही होता, चंचलता बनी रहती है। यदि रुक जाय तो निर्विकल्पता आ जानी चाहिये सो होती नही।

अनंतगुणसम्पन्न सहजसिद्धका संचर्चन—तो यह सहजसिद्ध आत्मा निर्विकल्प दशा को प्राप्त कर इन्द्रो द्वारा वंदनीय होकर मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करता है ऐसी सिद्धात्माओंको [illegible] आराधना करके सिद्ध हो जाते है। विरक्त होनेपर पहले सिद्धोको नमस्कार करते है और परिग्रहत्याग केशलोचकर योग धारण करते है। ऐसे जिनकी आराधना करके [illegible] होती है उन्हे पूजते है। किसके द्वारा? "सत्सम्यक्त्वविबोधवीर्य विशदाव्या [illegible]। [illegible] ज्ञान वीर्य और सुखादि गुणोके द्वारा अथवा अभिन्नतासे [illegible] नही, अब इन गुणोसे परिपूर्ण सहजसिद्ध आत्माके द्वारा पूजता [illegible] उनके लिये कार्य भी तदनुरूप किया जाता। जब [illegible] भी उसके लिये उतना बड़ा होना चाहिये तो उनकी [illegible] नही है। और हमारे पास कौनसी सामग्री है [illegible] जिनेन्द्र भावोका निर्णय जाना सो सम्यक्त्व है, जो पदार्थ [illegible] सो सम्यग्ज्ञान है। सिद्ध भगवान सम्पूर्ण द्रव्यों

का गुणोको और उनकी पर्यायोको जानते हैं। लेकिन जो न द्रव्य है, न गुण है और न पर्याय है उसे नही जानते, क्योकि ऐसेका अस्तित्व नही। यदि अस्तित्व किसी रूपसे कहा भी जाता है तो वह उपचारसे काल्पनिक अपेक्षासे होगा। जैसे हमारे हाथसे चौकेका अन्तर—१ बीता है तो यह दूरी न गुण है और न पर्याय और न कोई द्रव्य भी। इसी तरह यह छोटा है, यह बड़ा है ऐसा भी नही जानते। उस उस पदार्थको उस उस मापमे अवश्य जानेंगे लेकिन उससे यह छोटा है, यह बड़ा है ऐसी विकल्प रूपमे नही जानते लेकिन कोई जीव दूरीका छोटे बड़े आदिके विकल्प करता हो तो उसे जानेंगे क्योकि वह विकल्प उस जीव द्रव्यकी पर्याय है लेकिन भगवानके दूरी लबी, बड़ी आदि रूप विकल्प नहीं होते। ये विकल्प तो आपेक्षिक रूपसे श्रुतज्ञानियोके होते हैं। सिद्ध भगवानका ज्ञान सर्वद्रव्योंके द्रव्य, गुण और पर्याय विषयक होता है। हमारे मनमे विचार आया ईश्वरी जाता है, तो इस विकल्प सहित मुझे वे जान रहे है। प्रयोजन यह कि नैगमनयका विषयभूत ज्ञान विकल्प विशुद्ध ज्ञानमे नही है। आप कहो कि तो भगवानके ज्ञानमे ज्ञानकी कमी आ गई, सो बात नही है। उस ज्ञान कल्पनामे रहनेवाले जीवको भगवान जान रहे हैं। वह इस तरहका विकल्प कर रहा है ऐसा भगवान जानते है। विकल्प करने वाले सब श्रुतज्ञानी उनके ज्ञानमे आ रहे हैं। सो उसका ज्ञान तो हो गया लेकिन वहाँ कल्पना नहीं।

> विराग सनातन शान्तनिरंश, निरामय निर्भय निर्मलहंस।
>
> सुधामविबोधविधान विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह॥

सहजसिद्धतत्त्वका व सहजसिद्ध भगवानका अभिनन्दन—यह पूरी पूजा संस्कृत भाषामे है। जयमालामे सरल संस्कृत और सम्बोधनके शब्द होनेसे जयमाला हिन्दीकी मालूम पड़ती है, लेकिन ऐसा नहीं। यहाँ सहजसिद्धोसे आशीर्वाद लेनेके रूपमे सहजसिद्धका आशीर्वादात्मक अभिनन्दन किया है। हे विशुद्ध सिद्धोके समूह प्रसन्न होओ। सहजसिद्ध भगवान जो कि अपने ही स्वभावसे पूर्ण निष्पन्न हुए हैं और वे सहजसिद्ध भगवान जो कि प्रत्येक आत्मामें अनादि अनन्त अहेतुक, चित्स्वभावमें अभिन्न हैं स्वतः सिद्ध हैं, भावोंकी निर्मलता प्राप्त करनेके लिये जैसे व्यवहारमे अरिहंत और सिद्धकी आराधना करते हैं इसी प्रकार व्यवहारमे अपने सहजसिद्धकी भी आराधना करते हैं। निश्चयसे पूज्य और पूजकमे भेद नही। सहजसिद्धकी पूजा करते हुए कभी आत्मस्वभावपर और कभी सिद्धपर ध्यान जाता है। दोनोंमे मन बदलता है। स्वभावसिद्ध और सिद्ध भगवानपर सहजतया ध्यान न घुमाता ध्यान घूमता रहता है। हम आपकी शरण हैं यह एक व्यवहारभक्ति है। सहजसिद्ध भगवानका ध्यान रखना हुआ अपने स्वभावके उन्मुख होना है। और कहता है कि अन्य अन्य हो। ऐसा होगा कि भगवान सिद्ध लोकमे विराजमान हैं, और इसमें व्यवहारके है

फिर प्रसन्न होनेका क्या मतलब ?

सहजसिद्धके प्रसादका चित्रण— यद्यपि पुजारी यह अच्छी तरह जानता है कि कोई किसीपर खुश नही होता, अरहंत सिद्ध तो विरागी ही है और यहाँपर भी कोई किसीपर कुछ नही करता। अपनी-अपनी योग्यतासे सबकी क्रियाएं वा सब क्रियाएं होती है। उस पदार्थकी क्रिया उसीमे होती है। आत्माकी पर्याय रागरूप हो या ज्ञानरूप, होगी आत्मप्रदेशों में ही, उसके बाहिर नही। जिसकी जो क्रिया होती है वह उसीमे होती है। राग आत्माके चारित्रगुणका विकार है, वह आत्मप्रदेशोमे ही रहेगा उसके बाहिर वह नही जायगा। तब रागद्वेषपर क्या किया ? अपने चारित्रगुणमे विकार किया। तब कहनेमें ऐसा क्यो आता कि इससे राग किया ? कारण यह है कि राग आत्माका विभावपरिणमन है और विभाव परिणमन निमित्तके आश्रय विना नही होते। जैसे—किसीसे कहा जाय कि राग तो करो, लेकिन परका आश्रय मत लो तो ऐसा नही हो सकता। राग औपाधिक भाव है, वह आत्माकी उस जातिकी योग्यता और बाह्यमें उस तरहके आश्रयसे होता है। हाँ प्रयत्न करनेपर भी आत्माने ज्ञान नही हटता, क्योंकि वह उसका स्वभाव है, उसी तरह रागद्वेष आदि भी नही हट सकेगा यदि उसे निमित्तके आश्रयसे न माने तो। निमित्तका आश्रय न माननेसे वह आत्माका स्वभाव बन बैठेगा। ऐसा होकर भी कारणमे कार्यका उपचार करके कह लो परन्तु कोई किसीमे प्रेम नही करता, प्रत्येक अपनेमे ही परिणमता। लेकिन निमित्तसे ऐसा कहा जाता। व्यवहार किया जाता कि अमुक अमुकसे प्रेम करता। परन्तु प्रत्येक अपने अपनेमे ही परिणमते। तो हम यहाँपर भी आपसमे जब यह नही कह सकते तो भगवानसे प्रसन्न होनेको कहनेका क्या मतलब ? जिनको निमित्तमात्र करके अपने आपमे पहुंचनेकी तैयारी की, वहाँ जिनके लक्ष्यसे वीतराग भावमें पहुचनेकी तैयारी हो रही है उनको निमित्त [illegible] कह देते (वीतरागता, निर्मलता और प्रसन्नता एक ही बात है)। वास्तवमे तो अपनी ही प्रसन्नता होती है सच्ची भगवद्भक्ति अपनेको प्रसन्न करनेमे हो है। ऐसा जब करते [illegible] तब बाह्य साधनोका अवलंबन लेते है। यही कारण है कि साधुके लिये श्रावक [illegible] प्रतिबन्ध नही होता। जिनबिम्बदर्शनकी आवश्यकता जैसे श्रावकों [illegible] है, वैसी मुनियोंके लिये नही। मुनि जंगलमे भी रहते है और बिना किसी अवलंबन [illegible] उनके चित्तकी ऐसी ही निर्मलता होती है कि अवलंबनके बिना भी [illegible] सकते। [illegible] आश्रय बनाकर स्वभावका स्वाद लिया, प्रसन्नता [illegible] किया जाता कि प्रसन्न होओ, निर्मल होओ। और वे तो निर्मल ही [illegible]। [illegible] कहते है कि आप मुझपर प्रसन्न होओ तो उसका [illegible] जो चाहते है वह हमें मिल जाय। भगवानसे प्रसन्न होनेके

कहनेका यही मतलब है।

नयदृष्टिमे प्रसादकी छाया—'प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह, विशुद्धके दो अर्थ हैं—१-पूर्ण निर्मल और २-विविध शुद्ध-अनेक शुभोपयोगकी अवस्थाए। यहाँ पर स्वभावसिद्ध अपनी आत्मामे दोनो अर्थोंसे घटित कर सकते है और कर्मयुक्त सिद्ध भगवानमे पूर्ण निर्मल का अर्थ ही घटित करना चाहिये। यदि इस विशेष आध्यात्मिक शैलीसे प्रवेश करें तो यह आत्मा स्वत सिद्ध है, और भेद विवक्षासे देखते हैं तो वे भगवान भी स्वत सिद्ध हैं। अभेद का जब हम भेददृष्टिसे देखते हैं तो उसमे अनत शक्तिया मालूम होती है। परकी सहायता की अपेक्षा बिना जो सिद्ध है, निष्पन्न हैं उन्हे सुसिद्ध कहते हैं। आत्माके सारे गुण ऐसे ही हैं। तो सुसिद्ध गुणोका पुञ्ज जो आत्मा विशुद्ध है सामान्य दृष्टिमे एकस्वभावी है, ऐसे आत्माके लिये पूजक कहता है कि प्रसन्न होओ अर्थात् तुम्हारे ही अनुरूप ज्ञानोपयोग बनो। समयसारमे किस बातका वर्णन है? समयसारका। उसमे कहा है—

णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणगो दुजो भावो।
एव भणंति सुद्ध णादा, जो साउ सो चेव॥

जो न अप्रमत्त है और न प्रमत्त, जो न बद्ध है और न मुक्त। जो इन परिणतियोंमें नहीं जाना जाता है। ऐसा जो ज्ञायकभाव उसमे हम पहुचें वही है तो हमारा लक्ष्य है। तो सिद्ध भगवानकी पर्याय स्वभावके अनुरूप है अत उसकी भक्ति करके अपनेमे उस पर्यायको प्रकट करनेका उत्साह बढाया जाता। ऐसा भी कहा जा सकता कि किसी भी पर्यायमे यह आत्मा हो, पर्यायको छोडकर उस ध्रुवस्वभावी आत्माको जाना जा सकता है, लेकिन एका-एक ऐसा होना बहुत कठिन है। पहिले रागपर्यायको छोडकर शुद्धपर्यायको में तब साध्य सरल मान्य होना। अरहत, सिद्ध भगवानकी भक्तिके कारण समयसारकी अनादि अनत स्वभावसिद्धकी दृष्टिरूप पर्यायमे पहुचते हैं।

विरागसहजसिद्ध प्रभुका अभिनन्दन—कर्मको क्षय करके होने वाले ये सिद्ध कैसे है? 'विराग सनातन शात निरश, निरामय निर्भय, निर्मल हस सुधाम विबोधनिधान विमोह'। हे भगवन् आप विराग हैं, राग पर्यायसे रहित हैं, केवल विशुद्ध ज्ञानके उप-भोक्ता हैं, जहा एक जाननपनका साम्राज्य है और कोई विकल्प नही हैं। भक्त हर एक बात में तत्वकी बातको दुहराता रहता है और अपनेपर घटाता रहता है। यह सोचता है कि तुम्हारी (भगवान आपकी) पर्यायमे राग नही और मेरे स्वभावमे राग नही, जो आपकी दशा है स्वभावकी वही मेरी है। पहिचानमे आया कि स्वभाव जब एकसा है तभी शांति एक होती। इससे पुजारीमे दृढता आई कि मेरे स्वभाव विराग है, पर्यायमे विरागता नही है। जिस क्षणमें विरागपर ध्यान रखता, उस समयमे भी यह विराग नहीं होता क्योंकि

उपयोग तो विरागका वनाया है। तो भगवानकी वीतरागताको देखकर भक्त कहता कि मै भी विराग हू। किसी नयको किसी अन्य नयके विषयमे लगानेसे आपत्ति होती है, यहां प्रभु से कहा जा रहा है कि आप विराग है, सनातन है आदि।

हे प्रभो आप सनातन है। सिद्ध आत्माका स्वचतुष्टय कभी नवीन नही बनता, वह तो हमेशासे चला आ रहा है। स्वभावसिद्ध आत्मा भी सनातन है। सिद्ध शांत है, उनका चतुष्टय उनमे है। जहाँ सब कषायें दूर होती वहाँ शांति रहती। भक्त भगवानकी पर्यायको देखता हुआ अपनेपर दृष्टिपात करता है, पर्यायमे कषाय रहती हुई भी निजस्वभावमे सिद्धत्वका अनुभव करता। यद्यपि देर तक उस शातिका उपभोग नही कर पाता। देर तक वहाँ नही ठहर पाता। फिर भी उतने समय तक सिद्ध जैसे जिन है वैसे वह द्रव्यदृष्टिमे आता। जहाँ अंतर्मुख चित्प्रतिभास रूप दर्शन होता वहा द्रव्यमे केवल चित्प्रतिभास रह जाता। भगवान का ज्ञान अखंड है, हमारा जैसा खंड रूप नही जैसा कि हमारी पर्यायमे है। लेकिन यह कभी नही हुआ कि कोई शक्ति कभी कम और कभी ज्यादा हुई हो। पर्यायोमे भेद होता है, परन्तु पुजारी जब स्वभावपर दृष्टि देता है तो अनुभव करता है कि मै भी स्वभावमें वही हू जो भगवान हैं। अपूर्ण कोई नही। सत् अधूरा नही होता। वह अनंत गुणोका पुंज है परन्तु पर्यायदृष्टि रखकर इसे खंड खंड रूप वनाया। अमुकको जाना, फिर अमुक को जाना आदि—ज्ञानांश रूप हुआ। परन्तु प्रभुका ज्ञान निरंश है। आत्मा भी निरंश है। जितने भी सत है वे भी निरंश है। द्रव्य हमेशा निरंश रहा करता, अतः पुजारीकी दृष्टि अपने आपपर भी लक्ष्य रखती।

निरामय निर्भय निर्मल हंस सहजसिद्धका अभिनन्दन—भगवान अशरीरी है, अतः उनमे रोग नही है। रोग कल्पनामे है। आत्मा चेतन है, अमूर्त है, शरीरसे भिन्न है। इस संसारी आत्मामे भी रोग नही। आत्मामे रोग, राग द्वेष, मोहका होता, सो स्वभावमे वह भी नही है। और वातज पित्तज और कफज रोग तो शरीरमें ही होता है, आत्मामे नही। शरीर मूर्तिक [illegible] भी मूर्तिक हैं। संसारी आत्मामें पीड़ा तो है लेकिन वात [illegible] है। तो जो वात पित्त और कफके आश्रयमे वना उससे कह देते है कि अमुक [illegible] रोग हो गया [illegible]। सो पर्यायमे रागद्वेषादि रोग है, पर स्वभावमें नही। भक्त [illegible] प्रगट रहे। और भगवान तो पर्यायमे [illegible] है। कोई निरन्न ही नहीं तो भय किसका? स्वभावकी [illegible] है। सिद्ध आत्मा रागद्वेषादि मलसे रहित है। [illegible] हम उनके सच्चे भक्त नही कहला [illegible] नहीं पहुंच सकते। स्वभावका मिलान करें

...हत हैं। क्षीर नीरका भेद करने वाला हस पक्षी होता है। उस रूपकसे आत्मा (सिद्ध आत्मा) पुद्गलसे पृथक है और स्वभावसे यह ससारी आत्मा भी, अत वह हस है।

सुधाम विशेषनिधान सहजसिद्धका अभिनन्दन—हे भगवन ! आप उत्तम धाम को प्राप्त ह। आपकी आत्मा मुक्त (स्व) क्षेत्रमे विराजमान है। आप विशेष ज्ञान-केवल ज्ञान के निधान-भडार हैं और मोहरहित ह, ऐसे हे सिद्ध भगवन ! प्रसन्न होओ। भक्तकी ऐसी निर्मल भावनासे जो पूजा होती है, उससे वीतरागताकी जागृति होती है। सिद्ध पूजामे ... अरहतकी पूजा भी गर्भित है, जब कि ससारी आत्मामे भी स्वभावकी दृष्टिसे ... माना है, तब वे तो जीवन्मुक्त ही है। अनुजीवी गुण तो उनमे सभी पूर्ण प्रकट हैं। फिर भी सम्पूर्ण द्रव्योंकी गुण पर्यायोको वे जानते ह और अपनेमे लीन रहते हैं। जैसे कहा है—'सकलज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानद रसलीन'। लोग सोचने होंगे कि भगवान अपने आपमें लीन रहते, सो अपने आपको जानते, परको क्या जानते ? सो भैया ज्ञेयके आकारके प्रतिभासरूप परिणमना सो परका जानना तो हो ही गया। ज्ञानका काम जानना है, उसकी सीमा नही है, सो ज्ञान सबका ही तो होगा।

ज्ञानभक्तिमें ज्ञानपुञ्जका अभिनन्दन—इन दिखने वाले पदार्थोमे से कुछको तो हम जानते ही हैं। सो ऐसे कुछको जाननेसे ज्ञानपना या ज्ञानका महत्त्व नही है। यह ज्ञान तो निमित्ताधीन ज्ञान है। सहज विकासकी बात यहा नही आई। ज्ञानका स्वभाव ही जानना है। 'हम इतने पदार्थोंको जानते है' ऐसा कहकर दर्प मत बढाओ। इसका ऐसा न कहना चाहिये कि हम इतनेसे अतिरिक्त पदार्थोंको नही जान पा रहे, हमारा काम तो विशाल है ज्ञानका स्वभाव जाननपना है, फिर भी उसमे सीमा नही ह। तो स्वभावमें जब यह सीमाबद्ध ज्ञान नहीं तो कर्ममुक्त अवस्थामे भी सीमा कहासे आयगी ? तो भगवान पदार्थोंको निज आकार रूपस जानते, सम्पूर्ण द्रव्य गुण पर्यायोको जानते, किन्तु निमित्तकी दृष्टि नहीं। ऐसा विकल्पातीत निर्मल जिनका ज्ञान है, तथा ऐसी जिनमे अनत शक्ति है कि अपने आपमे निमग्न रहते। अपने आपमे वही रहता जो अनत शक्तिवाला होता, कमजोर व्यक्तिके ... ... कहती, अधिक बार पेशाब जाता, वह इसलिये कि शरीरमे उन मलोंके यथा समय ... ... की ताकत नही है, शरीर सबल रहनेपर उसके धातु, उपधातु आदि यथा व समय ... स्थिर रहते, लेकिन निर्बलता आने पर ऐसा नहीं रहता। इसी तरह आत्माको ... ... अन्तर्गुणोंको डाटनेके लिये बडी भारी ताकतकी जरूरत है, वह शक्ति ... ... हती है ... व अव्याबाधगुणसे पूरित हैं। वे अनतगुणोंसे परिपूर्ण हैं। ... ... हुआ व उनके ही सुखके धनी है। ... ... आत्माका स्वरूप ही हैं। उससे जो अनत तरहके विकार ... ...

दुःख रूप या इन्द्रिय सुख रूप परिणमता उन विकारोके दूर हो जानेपर स्वाभाविक अनंत सुखमे परिणमन करने लगता है। ऐसे महान सम्यक्त्व ज्ञान वीर्य और सुख आदि गुणोसे युक्त भगवानको मैं पूजता हूं। सो हे भगवन ! मै इन गुणोका लोभी होकर नही पूजता। और कोई चाहे तो उसे मिलते भी नही। हमको ये दर्शन, ज्ञान आदि नही चाहिये। तो क्या चाहिये ? इसका उत्तर भी हम नही दे सकते। तो ध्यान क्यो करते ? हो जाता है, जब मोह और विषयकषाय नही होते तो आपका ध्यान हो जाता है। प्रोग्राम बनानेपर भगवान नही पुजते। अगर कोई पूछने पर ही उतारू हो जाय तो हम क्या चाहते है, सो सुनो—

सकलसिद्धसंचर्चनमें संचर्चकके स्वयके स्वयंमें बोधन, दर्शन, निराकुलन व समाने की अभिलाषा—अनंत ज्ञान मिलो चाहे न मिलो, उसकी मुझे चाह नही है, मै इतना ही चाहता हूं कि अपने स्वयंको जान लूं। अगर कोई यह कह दे कि आपने ऐसी चीज मांगी कि जिसमें तीन लोकका ज्ञान आ ही जाता है। तो इसके लिये मैं क्या करूं ? मैं उस कामनासे थोड़े ही निज ज्ञान चाहता हूं। अनंतदर्शन मिलो, चाहे न मिलो, उसे मैं नही चाहता, मैं स्वयं अपने को ही देखता रहूं इतना ही चाहता हूं। मैं अनंत सुख भी नही चाहता, आकुलता मिट जाय केवल यही चाहता हूं। चंचलता दूर हो जाय, अनंत शक्ति मिलो या न मिलो उसकी मुझे चाह नही है किंतु मै अपनेमें ही ज्ञानरूपसे बैठ जाऊं यही चाहता हूं। इसके होनेमें और कुछ हो तो हो, हमारी कुछ वाञ्छा नही। ऐसा आपका यह [illegible] भगवान अनंत गुण आपकी पूजा करता हूं। सो मैं एक नही अनंत सिद्धोको पूजता हूं। प्रश्न—एक सिद्धका ही स्तवन कर लिया जाय सबको पूजनेका क्या प्रयोजन ? उत्तर—मुझे सिद्धगुणरूपी या मुक्तिरूपी कन्यासे पाणिग्रहण करनेके लिये उसके अनुरूप बरात सजाना है, [illegible] के लिये प्रयत्नशील हूं। तो इतने बड़े कार्यके लिये बरात भी बड़ी बनाना है सो [illegible] बराती ये सब सिद्ध भगवान हैं। दूसरी बात यह कि यह इतना बड़ा काम है कि [illegible] अकेले नही बनता, अतः अनंत सिद्धोको आह्वान करते है। उन अनंत सिद्धोको [illegible] और अभेद [illegible] विकल्परहित चैतन्य स्वभावमें ले जाऊं और अभेद [illegible] सिद्धोंको पूजनेकी सार्थकता यह है कि जब शुद्ध निश्चयनयके [illegible] अपना आराध्य बनाते है, तो सिद्ध एक नही है, वे अनंत [illegible] कि जिसमे हम किसीको निम्नकोटिमें छोड़कर [illegible] बनावें। लेकिन सिद्ध आदिकी विशेषता व्यवहारमें है [illegible] किसको पूजें किसी एक तीर्थंकर सिद्धको ही पूजें [illegible] होता है। व्यवहारकी रुचि वाले पुजारी तो

स्वभावसिद्ध सभी आत्माए आराध्य ह । उन सब आत्माओका एक साथसे जो ध्यान है वह अनन्त सख्याको छोड देता है और एक स्वभावरूप रह जाता है तथा तियक् सामान्यरूपसे एक सामान्य हो जाता है । उस सामान्यस्वरूपकी आराधना निजकी पर्याय है और यह निज सामान्यस्वरूपको अनुभवता हुआ प्रगट होता है । इस तरह उन सब अनतसिद्ध महाराजोका ध्यान अतमे निज अभेदस्वरूप चैतन्यभावका स्पश करानेको पूण कारण होता है । इस प्रकार सहजसिद्धदेवकी विविध अर्चना करके अब जयमालामे कहते ह—

विदुरितसृतभाव निरग, समामृतपूरित देव विसग ।
अबन्ध कषायविहीन विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥

विदुरितसृतभाव निरङ्ग सहजसिद्धकी उपासना—अत्यन्त दूर हो गया है ससृतभाव जिनका, इसीको मुक्त अवस्था कहते है जहाँ सासारिक परिणाम दूर हो जाते हैं । धर्मके लिये भाव बनानेको गन्दे भाव दूर करना चाहिये, इसके लिये सहजभावपर दृष्टि जानी चाहिये । भगवानकी पूजा वन्दना आदि भाव बनाये जाते हैं, ये भाव सहज नही होते, अत निश्चयत धम भी नहीं हैं, लेकिन उपयोगी जरूर हैं । मात्र विषयकषायका परिणाम न आने देनेके लिये । यह समझ आनेपर कोई यह समझे कि भगवानके प्रति भक्तिके भाव मद पड जावेंगे या भक्तिभावमे न्यूनता आवेगी सो बात नहीं । जैसे जैसे सहजभाव प्रगट होगा त्यो त्यो यदि विकल्प हो सिद्ध भगवानमे आदरकी विशेषता होगी । पूजा करने वाले यदि पूजाको वास्तवमे तेज बढावें तो पूजा नही रहती, अद्वैतभक्ति हो जावेगी तथा साधारण लोग पूजाके यथार्थ मार्गपर नही चलते तो पूजाकी झझट बनी रहती है । पूजाकी यही विशेषता ह कि पूज्यतत्त्वका—परमात्मस्वरूपका ध्यान रहनेपर आत्मा आत्मस्वरूपकी स्थिरता प्राप्त कर लेता । निरग—आप निरग हैं, अगरहित हैं । निरगके २ अर्थ हैं १-अग-रहित, २-शरीर रहित । दोनो अर्थोमे सिद्धका स्वरूप प्रगट होता है । भगवान स्वरूपमे परिपूर्ण हैं उनमे सादापना नही है और देहरहित भी हैं । परमशुद्ध निश्चयनयमे हमारी आत्मा भी सवभावरूप-स्वरूपसे परिपूर्ण है, और आत्मा तथा कर्मका कभी तादात्म्य नही होनेसे वह देहरहित भी है । नि शेष अङ्ग अश या गुणोंसे परिपूर्ण है । सिद्ध भगवानकी पर्याय भी छद्मस्थ अवस्थाकी सादा परिणतिसे वा देहसे मुक्त हो चुकी है, शरीर जड दुख देता है इसके सगम आत्मा पिटती है, वैभाविक परिणमनमे जाती हैं, दुसरा अनुभव करती है । दृष्टान्त—लोहके सगसे अग्नि पिटती है । लुहार अग्निको नही पीटता पर लोहेके साथ रहनेसे वह भी पिट जाती है । आत्मा ,यदि कर्मका सयोग न करे तो उन दुखोका कभी अनुभव न करना पडे, लेकिन कर्मके सयोगकी अवस्था बनाता है तब दुखमे रहना पडता है ।

समामृतपूरित सहजसिद्धप्रभुका अभिनन्दन—समामृतपूरित—आप समतारूपी अमृत से पूरित हो। समता जीवका स्वभाव है। जीवके भाव और अजीवके भावकी वह मेंड है। जैसे—दो किसानोंके पास-पासमे खेतोको अलग करनेवाली मेड होती है इसी तरह जीवभाव और पौद्गलिकभावके अलग करनेकी तरकीव है समता, समता ही जीवका भाव है, जब [illegible] विषय विकारीभाव पुद्गलके संयोगसे जन्य पौद्गलिक भाव है। समतासे जीवके स्वभाव की पहिचान होती है। समता जीवका स्वभाव है, वह पर्यायमे धर्म आनेपर प्रगट होता है। स्वभावसे हमारी आत्मा समतारूपी अमृतसे परिपूर्ण है। लोकव्यवहारमे भी जो जितना गम खाता है वह उतना ही शात रहता है। जो समताभाव रखेगा वह पुष्ट रहेगा, [illegible]। गम खानेसे कलह और विसवाद नही होते, घरमे जो सहनशील होता [illegible], यही नही किसी भी क्षेत्रमे जो जितना सहनशील होगा वह उतना ही [illegible]। जरा जरा सी वातमे झगडा करनेवाले वड़े कैसे वन सकते है? कभी नहीं। [illegible] पहिचान समता है। एक त्यागीजीके पास एक साधर्मी भाई गये, और त्यागीजीने उनका नाम पूछा, उन्होने अपना नाम शीतलप्रसाद बताया। कुछ देर बाद फिर पूछा, उन्होंने फिर बता दिया। कुछ देर बाद फिर पूछा, अबकी बार वे गुस्सा हो पडे और बोले [illegible] कितनी बार बताऊं, तब वे यह कहते हुए चले गये कि आपका नाम ज्वाला-प्रसाद है यह मैं समझ गया। उन महाशयको त्यागीजीके त्याग–समताकी परीक्षा करनी थी, [illegible]। [illegible] पकवान बड़ा बनाया जाता है, समतामे उसका रूपक यो कहते [illegible] उड़द [illegible] जाता है तब कूटकर छिलकेमे उसे अलग करते है। पीछे चक्कीके [illegible] पाटोंके बीच उसको दला जाता है, ओखलीमे मूसलोकी चोटे सहना पडती है। [illegible] टुकडे टुकडे हो जाता है, और जल मिलाकर गूंदा जाता है। फिर उवलते [illegible] बड़ा बनता है। इतना सब कुछ सहते हुए जब वह स्वाद [illegible]। [illegible] प्रशंसा है। वह समतामे जितने उपद्रवोको सहता है [illegible] ही बड़ा बनता है। जो चीज सही होती है वह सुगमतासे समझ [illegible] वर्णन करते, लेकिन उनके पूछा जाय कि सच कहे [illegible] तो यदि वे सचाईसे कहेगे तो नकारात्मक उत्तर होगा [illegible] जो अमल करता है वह अविकल अवि[illegible] [illegible] आत्मा उसके सच्चे स्वरूपको जानक[illegible] [illegible] आदमी। भगवान अपने आपमें रमने वाले [illegible] है।

[illegible] निर्मल है। जितना शुद्ध है व[illegible]

भावना और असंग वृत्तिकी महिमाका वर्णन करना कठिन है। यह वह अवस्था है जिससे आत्मा परमात्मा बनता। इन्द्र धरणेन्द्र और चक्रवर्ती निःसङ्ग साधुके चरणोकी रज मस्तकपर बडी श्रद्धाके साथमे लगाते है। उनके चरणोपर मस्तक टेककर अपनेको धन्य मानते है। आज तक जितने भी सिद्धपदको प्राप्त हुए है और आगे अनन्तकाल तक होते रहेगे वे सब निर्ग्रन्थ होकर ही हुए हैं, निर्ग्रन्थ होकर ही मुक्त हुए हैं। सातिशय पुण्यके धारी तीर्थंकर भी जब तक निर्ग्रन्थ नही होते तब तक अपने स्वरूपमे स्थिर नही रह सकते, कर्मोको नही काट सकते। हम अपनी आँखोके सामने देखते है कि बडे कहलानेवाले राजा महाराजा साधुके चरणोमे अपना मस्तक टेकते है, साधु कभी भी उन्हे ऐसा नही करता। जो साधु, साधु [illegible] भी धनी मानी और लौकिक प्रतिष्ठामे प्रतिष्ठित व्यक्तियोकी खुशामद करते है, उनसे कुछ पानेकी फिकरमे रहते है वे साधु ही नही है, ढोगी और संसारी है। वे आत्मतत्त्वसे सर्वथा अनभिज्ञ है, मिथ्या वासनासे ग्रसित है। और अपने सिवा दूसरोको भी संसारके मार्गमे ले जाने वाले है। अत. दुःखसे छुटने वाले मुमुक्षुकी वृत्ति निःसंगपने की होती है, और वृत्तिसे पूरा नही तो भावना अवश्य ही निःसगपनेकी होती है। जो अपने को [illegible] समझता हो, या उस कोटिमे अपनेको रखना चाहता हो, दुःखोसे छूटना चाहता हो, संसार जिसे क्षणिक और दुःखमयी मालूम होने लगा हो, वह अपनी भावना और वृत्ति को [illegible], सर्वविदित निजरो देगे।

[illegible] सरकारकी तरफसे धन सपत्तिके बारेमे बडी कडी निगाह है, उसको [illegible] परिग्रह परिमाण व्रतकी यथार्थतापर अवलबन करना अति आवश्यक हो गया है।

[illegible] सिद्धोंका अभिनन्दन—हे सिद्ध भगवन! आप अबंध-बंध रहित हैं। [illegible] अबंध ही है तथा मिथ्यात्व और कषायोसे जो पुद्गलोको अपने [illegible] कर्मरूप किया था और वे कर्म आपके पास बैठकर आपमे रागद्वेष पैदा होनेके [illegible] शरीर [illegible] बंधन और औदारिक वैक्रियिक आदि नो [illegible] भी क्षीण हो गये, सिद्ध प्रभु केवल हो गये। स्वरूपसे [illegible] किसी बन्धनमे नही है और न कभी हो सकेगा।

[illegible] अनुभव करता है। जब उसकी [illegible] अपने स्वतन्त्र परमात्मीय गुणोमे परिपूर्ण माननेमे नि:- [illegible] समझता है तब उसका मानसिक स्तर सुदीर्घ कालके [illegible] कि वह परतन्त्र ही रहता है। स्वभावमें स्वतन्त्रता होते हुए [illegible] कि वह अपने स्वतन्त्र स्वरूप [illegible] स्वरूपके और [illegible] भगवान [illegible]

सहजसिद्धके सदाशिवरूपमें सहज निवारित दुष्कृत कर्मविपाशता—जब स्वरूपपर दृष्टि दी तो अपने आपको यह ज्ञाता भगवान जानता है। हे सहजसिद्ध निज चैतन्यदेव ! तुम अनादि, अनंत, अहेतुक हो, तुममे कर्म है ही नही। वे तो अनादिसे निवारण किये हुए है। द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनो ध्रुव आत्मामे अनादिसे नही है। आपको कहा जा रहा है कि आप सदा शिव है, बंधरहित स्वतन्त्र है। सांख्य जैसा कुछ कहते और अनादि सृष्टि-वादी कहते, उस मान्यताके अनुसार कोई अस्तित्व ईश्वरका नही है। हम जो स्वभावतः ईश्वर है उनका अस्तित्व है। पूर्णसत् द्रव्यपर्यायात्मक गुणपर्यायात्मक होता है। उस ही सत्को द्रव्य सामान्य देखनेपर सदाशिव मालूम पड़ता। जैसे—एक ही मनुष्य अपेक्षासे पिता, पुत्र, मामा और फूफा आदि है लेकिन ऐसा नही कि कोई एक अंग पिता है, कोई अग पुत्र मामा और फूफा आदि हो। सारेका सारा शरीर फूफा मामा आदि है। पूरेका पूरा जिस दृष्टिसे देखो उस दृष्टिसे वह मालूम पडता। पिताकी दृष्टिसे देखें तो पूरेका पूरा पिता है और पुत्रकी दृष्टिसे देखे तो पूराका पूरा पुत्र है तथा इसी प्रकार और और। इसी तरह इस ही आत्माको जब हम पर्यायसे देखते है तो पूरेका पूरा संसारी है। और जब सामान्यकी दृष्टिसे देखते है तो सदाशिव है। तो हे सहजसिद्ध तुम सदाशिव हो। अनादिसे कर्मविपाशको दूर किए हुए हो। ऐसे हे सहजसिद्ध भगवान प्रसन्न होओ।

सदामल केवलकेलिनिवास सहजसिद्धकी उपासना—सदामल-आप सदा अमल हो, निर्मल हो। यह बात भविष्यके लिये है या भूत आदि किसी भी कालको ? सभी कालोके लिये साधारण है। कर्मक्षय सिद्ध भगवान जिस समयसे सिद्ध होते है, वे अनन्त काल तक निर्मल रहते है और यह सहजसिद्ध आत्मा हमेशासे निर्मल है। इसमे परके द्रव्य क्षेत्र काल भावका न आना ही उसकी निर्मलता है ऐसा यह आत्मा जिसमे परकी लपेट नही है। आत्मा-की वस्तु अन्य आत्मामे आ ही नही सकती। केवलकेलिनिवास ? हे भगवन आप केवलज्ञान में केलि करनेवाले है। केवल एकको भी कहते है, तो एकका खेल कैसे ? अकेला भी खेल होता है। अकेला बच्चा जब खेलता तो प्रसन्न ही रहता है, और बहुतोमे जब खेलता तब झगड़ा फिसाद होकर संक्लेशित भी होता, तो केवल एकका खेल देख लो, कैसा होता ? और बहुतोके संगका देख लो। तत्त्वार्थसूत्रमे मैथुनमब्रह्म—सूत्र आया है उसमे मिथुनसे मैथुन शब्द बना है। दोके संपर्कसे जो असर होता उसे मैथुन कहते है। जब तक कर्मका उदय है, उनके निमित्तसे जो भी भाव है वे सब मैथुन है। निश्चयत दो चीजके संबंधसे होनेवाले असरको कहता है मिथुन शब्द। यदि 'मैथुनमब्रह्म' सूत्रसे उल्टा सूत्र बनाया जाय तो होगा 'एक ब्रह्म' अर्थात् एक ही चीज हो, एकका ही फल हो और एकका ही कारण हो वह ब्रह्म है। तो भगवान कैसे है ? केवलका जो केलि करते या केवल अपनेमे जो केलि—क्रीड़ा

करते हैं या केवलज्ञानमें ही लीन रहते हैं। ज्ञायक ही रहते हैं ऐसे हैं। और हमारा सिद्ध भगवान कैसा है? (कर्मक्षय सिद्ध और स्वभाव सिद्ध दोनोंकी दृष्टि चल रही है) सत् सामान्य स्वलक्षणकी दृष्टिसे मैं केवल अर्थात् एक हूं और उसीमें केलि करने वाला हूं। परपदार्थ वा परभावमें केलि करनेका मेरा स्वभाव ही नहीं है। ऐसे हे सिद्ध भगवान प्रसन्न होओ। जैसे-घरका कोई आदमी बुरे रास्तेपर चलता है तो कहते हैं कि प्रसन्न होओ आदत को छोड़ो। इसी तरह हम अपनेसे ही कह रहे हैं कि खूब भटक लिया अनादिसे अब तक अनन्त उपद्रवोंको सह लिया, नरक निगोद स्थावर त्रस देव मनुष्य आदिकी पर्यायें धारण कर करके छोड़ दी। अब तो प्रसन्न होओ अपने रास्तेपर आओ।

भवोदधिपारग शान्त विमोह सहजसिद्धकी उपासना—आप कैसे हो भगवन! 'भवोदधिपारग' संसारके पार पहुंचने वाले हो। भव कहते उत्पन्न होनेको उत्पत्तिको यही हुआ। उदधि माने समुद्र, सो आप उसके पार पहुंचने वाले हो। कर्मक्षय भगवान तो जन्ममरणसे रहित हुए इसलिये और यह हमारी आत्मा सामान्य ज्ञानकी दृष्टिमें, सबके स्वलक्षणसे अपना स्वलक्षण अलग रखता, इसलिये यह भी भवोदधि पारग है, जन्ममरणातीत है, अनादि अनन्त है। ऐसे हे विशुद्ध भगवन! हमपर प्रसन्न होओ। भव जन्म लेनेको कहते हैं। मरणको संसार नहीं कहते। जन्मके बाहर जीवन (भव पर्याय) है इसलिये जन्म संसार है। यही समुद्र हुआ। समुद्रके भीतरका पता नहीं रहता आर छोर नहीं रहता। मगरमच्छ होते हैं इसी तरह संसारमें बहुत जीवोंको पता ही नहीं कि हमें क्या करना है? आहार भय मैथुन और परिग्रह इन ४ संज्ञाओंमें लग रहे हैं सन्ना ज्वरमें पीड़ित है। समुद्रमें जैसे अनेक जलचर होते हैं वैसे इस संसारमें अनेक आपदाएं हैं उनमें लग रहे। ऐसे संसारसे हे भगवन आर-पार पहुंच गये हैं। पार पहुंच गये इससे मालूम होता है कि आप पहिले इसमें थे। जब कभी काललब्धि आती है तब विशुद्धि होती है और संसारका नाश होता है। जिन सत्ता चौथे गुणस्थानसे मानी गई है। इस [illegible] गुण स्थानोंमें स्थित सभी जीव जिन हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि, उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि इनके दर्शन मोह नहीं रहता। आगे मोहका पूर्ण नाश होनेसे [illegible] बन जाते और फिर पूर्ण सिद्ध होते। जब यह जीव [illegible] करता है तभी सम्यक् [illegible] संसार बन जाता। संसार कबसे है? अगर कोई सीमा बनाई जाय तो [illegible] नहीं था। लेकिन पहिले न होकर फिर होना बनता नहीं है। [illegible] असत् नहीं होता। अतः संसार अनादिसे सत् है और जीव भी अनादि है, [illegible] परम्परा भी अनादिकी है। [illegible] संसारमें इतने अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन [illegible]

संसारको देखते हुए अति थोड़ा ही है। जिन संज्ञा होनेपर चौथे गुणस्थानमे ही संसारकी जड़ कट जाती है। फिर चाहे कितने ही दिन क्यो न संसारमे रहना पड़े ? फिर भी जब तक जन्म धारण करने पडते तब तक संसार बना ही है। जब जन्म न लेनेका अधिकार हो गया, ऐसे अरहंत भी हो जीवन मुक्त कहलाते और फिर सिद्ध तो जिन है ही। और हे निज आत्मा तुम भी भवोदधिपारग हो। जब योग्यतापर दृष्टि देते हैं तो संसारसमुद्रसे पार होने लायक हो, सहज पर्याय स्वभावपर दृष्टि देनेसे। और द्रव्यदृष्टि देनेपर संसारसमुद्रसे पार ही हो। केवल स्वभावपर दृष्टि हो उसमे विकल्पको ही स्थान नही है। और जब उसके अनुरूप विकल्प आता तब उसमें न उत्पत्ति है और न विनाश। इस तरह निज आत्मा भी स्वभावदृष्टिसे भवोदधिपारग है शांत विमोह! सिद्ध सदासे शात ही हैं। उपाधिसे जो अशाति थी वह द्रव्यमे नही पर्यायमे थी, जब पर्याय भी स्वभावमे आई तब उपचारसे भी अशाति हट गई। मिथ्यात्व और क्रोध मान आदि अशाति पैदा करने वाले है, अथवा जीवमें वैभाविक भाव ही अशांत है। इन भावोके उदयमे जीवके प्रदेशोमे चंचलता हो जाती है। ऐसे हे कर्मक्षयसिद्ध वा सहजसिद्ध शात स्वरूपशात भगवान प्रसन्न होओ।

अनन्तसुखामृतसागर धीर, कलंकरजोमल भूरि समीर।
विखडितकाम विराम विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥

अनन्तसुखामृत सहजसिद्धकी अभ्यर्चना—हे सिद्धदेव! तुम अनन्त सुखामृतके सागर हो। कहनेमे ऐसी रूढि चली आ रही है कि अमृतको पान करके जीवको विशेष सुखका अनुभव होता। इस उक्तिको चरितार्थ करने वाली दो चीजे है—१–ज्ञान और २–सुख। जो मरे नही उसे अमृत कहते है। अनंत सुख और अनंत ज्ञान ऐसा ही है। अनंत सुख अनन्त ज्ञानका अविनाभावी है। अनंत ज्ञानके होनेपर ही अनंत सुख होगा और अनंत सुखके होनेपर ही अनत ज्ञान होगा, किन्तु इनमें से एकके न रहने पर दूसरा भी नही होगा। लोकमें भी ऐसा देखा जाता कि जिसके जिस ढंगका जैसा ज्ञान वैसा सुख। जिसके विकल्परूप ज्ञान है उसके सुख भी विकल्परूप है। और जिसके निर्विकल्प ज्ञान है उसके सुख भी निर्विकल्प है। सुख ज्ञानके अनुरूप चलता। शब्दकी अपेक्षा सुख आनन्दको कहते है। ख–इन्द्रियोको जो सु–सुहावना लगे सो सुख है। परन्तु भगवानकी परिणति इन्द्रियाधीन नही। और भगवानके इन्द्रियां नही, अत उन्हे सुखी न कह आनन्द रूप कहना ज्यादा अच्छा है। आ–समन्तात सब तरफसे जो नेह समृद्धिशाली हो, उसे आनन्द कहते। भगवान सिद्धदेव अपने प्रदेशोमे पूर्ण समृद्धशाली है। जो विकल्पोमे घूम रहे है वे गरीब है और जो निर्विकल्प हैं वे धनी है। जो अपने आपमे स्वाभाविक रूपसे हो वह है सहजविभूति। ऐसी

विभूति भगवानके होती है। उस विभूतिके वे सागर होते हैं। यहा भी सागर आया। लेकिन उदधि और सागरमे अन्तर बहुत है। उदधि तो बखेडाकी चीज है और सागर सुख रूप। ऐसा कोई नही कहता कि भगवान आप सुखके उदधि है, आप सुखके सागर हो ऐसा ही कहा जाता है। भगवान अनन्तसुखके सागर हैं।

धीर सहजसिद्धका अभिनन्दन—प्रभु कैसे है ? धीर है। जो धी-बुद्धिको रति-दवे सो धीर है। अर्थात् समता भावी धीरको गम्भीर भी कहते है। सो क्यो ? समताकी अवस्थामें ज्ञान ठिकानेसे रहता है, इसलिये गम्भीरकी अवस्थाको धीर कह दिया। निर्विकल्प स्वभावरूप रहने वालेको धीर कहते हैं। तो जो धीर होता वही समतापरिणाम वाला होता है। इन दोनोका अविनाभाव है। गभीर समतापरिणाम वालेका नाम है। तो समतापरिणामका नाम धैय इसीलिये होता कि बुद्धि ठिकाने रहती है। धीरके शब्दाथ मे जब कहते कि जो यथाथ ज्ञानको दवे वह धीर है, तो यथाथ ज्ञानको कौन देता ? स्वय सिद्ध आत्मा या निजात्मा अपनेसे ही अपनेको ज्ञान दता, आत्माका ज्ञान परिणति करता ही उसका दना है। भगवानके प्रसादसे भक्तोको भी बुद्धि मिलती है। इसलिये भी सिद्ध भगवान धीर हैं, यहाँ कारण या निमित्तकी अपेक्षासे ऐसा कहा जा रहा है। और निश्चय-नय अपने आपमे ज्ञान देते रहते स्वच्छ रहते, इसलिये धीर है। और हे सहजसिद्ध भगवान तुम भी धीर हो। कैसे ? धी-बुद्धिया ज्ञानकी परिणतियोको रति ददाति-प्रकट करते हो, विशेष पर्यायें सामान्यमे ही प्रगट होती हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान—ये पाचो ज्ञान ज्ञानस्वभावके प्रगटरूप हैं, व्यक्तियाँ हैं य। हे धीर-आप अपनेमे ही परिणमन कर रहे है। जिसने अपने आपको न देखा वह उलझता रहता और देखे तो अपने आप ही प्रभु है। किंतु इस नातेसे इसे दिखा नही। और और नातेसे देखता रहा। एक ही व्यक्ति पुत्र और मामा कहलाता। पुत्रकी दृष्टिसे सम्मान पान योग्य और मामाकी दृष्टिमे सम्मान दने योग्य समझा जाता। इसी तरह द्रव्यकी दृष्टि देखा तो जीव प्रभु है और ससारी पर्यायसे देखो तो दीन है। तो जिस स्वभावसे व शक्तियाँ प्रकट होंगी उसे देखो जानो। वतमानके आविष्कार करने वालोने बहुत आविष्कार किये पदार्थोंकी खोजमे अपना सवस्व हार दिया लेकिन इसका पता नही। इस विडम्बना मे ... हो लेकिन गाँवका नाम कहाँसे निकला, यह न मालूम हो ... है ... प्राणी भी रही जैन। अनोखके बालकोंसे समान है, जो बाह्य सब देखता ... देखता। दुनिया भरके पदार्थोंकी जानकारी लेनेमे और अपनी जानकारीका पता नही।

कलवरकोमलभूरिगमीर उदकसिद्धका अभिनन्दन—... है ऐसा सामान्य ... और कैसा है ? ... गभीर। ...

को आप प्रचंड पवनके समान है। जैसे प्रचंड पवन धूलको उडा ले जाती है, उसी तरह आपके विशुद्ध उपयोगने भी कर्मको दूर कर दिया है। जैसे—धूल हवासे अलग चीज है, मूर्त है किन्तु हवा उससे सूक्ष्म है वेरोकटोक चलने वाली है, इसी तरह कर्म कलंक धूलकी तरह है और विशुद्ध उपयोग हवाकी तरह है। धूल चढ जानेसे असलपर आवरण हो जाता, कर्मसे भी स्वभावपर आवरण होता। रागद्वेष आदि भाव कर्म कलंक भी आत्माके स्वभावमें नही है परको निमित्त करके आ जाया करते है। जैसे—धूल किसीके घरमे ज्यादा देर तक नही ठहर पाती, कर्म भी वा रागद्वेषादि भाव कर्म भी क्षणस्थायी होते है। जैसे हवा का रोकना कठिन है उसी तरह ज्ञानकी परिणतियोका रोकना भी कठिन है। मोहका वडा प्रताप है, उसका थामना वडा कठिन है परन्तु जिस विशुद्ध ज्ञानके वलसे वह ठहर नही सकता उसकी महिमा मूढ प्राणी नही जानता। कहते है कि—"कोटि जन्म तप तपें ज्ञान बिन कर्म झरे जे ज्ञानीके छिन माहि त्रिगुप्तितै सहज टरै ते।' ज्ञानकी महिमा अपार है। हमारी बातचीतमे मोहको मजबूत करने वाली पद्धति नही चलनी चाहिये। आत्मज्ञानकी महिमा बढे ऐसी वाते होनी चाहिये। पर कोई रागद्वेप और मोहकी ही वाते करनेकी वान पकडे हो तो समझो कि उसका संसार अपार है, दु.खके भारी गड्ढोमे ही उसे गिरना है। हमारे समक्ष तो हमेशा अपने स्वभावकी ही वातोंको पुष्टि होनी चाहिये। तो हे भगवन ! आप विशुद्ध ज्ञानरूपी प्रचंड हवासे कर्मकलकको उडाने वाले है।

विखण्डितकाम विराम विमोह सहजसिद्धप्रभुका अभिनन्दन—सहजसिद्ध प्रभु आप कैसे है ? विखंडित काम विराम, विमोह—जिन्होने कामका खंडन कर दिया ऐसे है आप। ऐसा लोग कहते है कि महादेवजीने कामको भस्म कर दिया। सो कैसे ? ऐसे कि कामको तो भस्म किया जिनेन्द्रदेव ने, जिसे देख दुनिया उन्हीको कामको भस्म करने वाले मानने लगे। अभिमन्यु नाटकमें जैसे—राजा वहादुर विदूषककी दिखाऊ वीरताका प्रसंग है। हे सिद्धभगवान आप सचमुचमें विखडित काम है। सच्चे अर्थोमे शिव है, कल्याणरूप कल्याण कर रहे है। क्योकि आपने कामको वशमे किया है, खडित किया है। और विराम कहिये आप आराम विश्राम या शांतिरूप है, सारे परिश्रमोसे रहित है। राम आत्माको कहते है। जिसमे योगी रमे वह राम, तो किसमे योगीजन रमते है ? आत्मामे। ऐसी आत्मा राम कहलाती तो जो विशेषरूपसे रम रहा है, सदाके लिये पूर्ण निश्चल है ध्रुव है, हे भगवान ऐसा तू है। सो मुझपर प्रसन्न हो।

विकारविवर्जित तर्जितशोक, विवोधसुनेत्रविलोकित लोक।
विहार विराव विरग, विमोह प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥

विकारविवर्जित तर्जितशोक सहजसिद्धकी उपासना—हे सिद्ध समूह ! आप विकारोसे

प्रयत्न निवृत्त हो चुके हो। जो चीज अपने आपमे है, किन्तु औपाधिक है उसीका त्याग होना है। जो अपने क्षेत्रमे नही परक्षेत्रमे हो उसका त्याग नही होता। मोह आदि विकार ऐसे ही हैं कि वे आत्मामे ही होते है, पर हैं उपाधिजन्य। विकारोंको बनाने वाला स्वय आत्मा है और दूर करने वाला भी वही है। विकारोंके बननेमे द्रव्यकर्म निमित्त होते हैं और उनके हटनेमे गुरुका उपदेश, जिनवाणीका श्रवण, मनन, पठन पाठन, जिनबिम्बदर्शन आदि निमित्त होते हैं। लेकिन इन दोनो अवस्थाओमे परिणति करने वाला स्वतन्त्र है। कभी ऐसा भी होता है कि कर्मके उदयमे भी वह विकार करे या न करे, इसी तरह गुरु उपदेश आदिसे निर्विकार हो या न हो यह उसकी (आत्माकी) योग्यता या परिणतिपर निर्भर है। तो सिद्धोंने अपनी योग्यतासे, पुरुषार्थसे विकारोको इस तरह नष्ट कर दिया है कि उनका अस्तित्व कभी भी न पाया जावेगा। तर्जितशोक और उनका जिन्होंने तर्जन कर दिया है, मालूम होता है भगवानको भी शोक सता रहा था (विकारी अवस्थामे) जब विकारोको हटा दिया तो उसकी भी तर्जना हो गई, तर्जना उसीकी हो सकती है जिसका अस्तित्व हो। ससारी अवस्थामे मोहके कारण शोक सताप हुआ करते थे, परपदार्थोको अपना या स्वय अपने रूप माननेके कारण उसमे इष्ट या अनिष्ट कल्पनाए उठा करती थी, उन्ही समस्त कल्पनाओसे शोक और सताप होता था, इष्ट पदार्थका वियोग होनेपर अथवा नहीं मिलने पर चित्तमे खिन्नता आती थी, जब उसका मूल आधार मोह गया तो यह कल्पना और उस कल्पनाजन्य शोक भी गया जिस मोहकी बलवत्ता या गौरवके गीत मूढ प्राणी गा गाकर अपने को कायर बनाये रहते, मोहसे तर्जित होते रहते हैं, ठगाये रहते हैं, पराधीन और आकुल बने रहते हैं उस मोहको जब भगा दिया, तिरस्कृत कर दिया तब उसके लिए यह भारी तर्जना थी। चेतनकी अनन्त शक्तिको परास्त कर दन पाना अनन्तानन्तियार मा जब आत्माको उपाधि पैदा करनेमे अपनी निमित्तता रखता है तो बाह्य दृष्टि वाले उसका गौरवगान क्या न करेंगे? लेकिन जिन्हे अपने और अपनी अनन्तशक्तिकी खबर पड गई वे कब तक उससे तिरस्कृत होते रहते? आखिर मोहको भी एक दिन मजबूर और लाचार लिये उनमे अपना स्वामित्व हटाना पडता है (यह अलकारिक भाषामे कहा जा रहा है। वास्तवमे विभाव या द्रव्यकर्म आत्माके स्वामी नही होते, लेकिन उनकी विभावपरिणतिमें वे निमित्त पडते ही है इसलिए उनकी तरफ दृष्टिपात करने से उनका प्रभुत्व मालूम पडता है) तो सिद्ध होने वाली आत्माओंने मोहकी हमेशाके लिये तर्जना कर दी है।

जाता, और उसके विषयमे ऐसा कहा जाता कि मैंने ऐसा प्रत्यक्ष देखा है। यह विशेषता उसमे इसलिये है कि चारो इन्द्रियोसे तो अर्थावग्रह तथा व्यजनावग्रह होता (व्यञ्जनावग्रह माने अस्पष्ट पदार्थका ज्ञान) किन्तु चक्षुइन्द्रियसे व्यञ्जनावग्रह नही होता उसके अर्थावग्रह ही होता है। यद्यपि प्रकाश पदार्थोकी निकटता, नेत्रका निर्दोषपना, अन्य पदार्थोका बीचमे आड़े नही आना आदि कारणोकी पराधीनता रहनेसे वह नेत्रजज्ञान भी प्रत्यक्ष नही है, परोक्ष ही है, फिर भी लोकव्यवहारकी अपेक्षा उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते ही है। को इसीलिये ज्ञानको नेत्रकी उपमा दी अथवा व्यवहारकी अपेक्षा भक्त भगवानके ज्ञानको व्यवहारी जीवो नेत्रज प्रत्यक्षकी उपमासे उनके प्रत्यक्षज्ञानकी प्रतिष्ठा बता रहा है। वस्तुतः उस प्रत्यक्षज्ञानकी उपमाके लिये अन्य कोई पदार्थ नही है, फिर भी उत्कृष्टता बतानेके लिये कुछ भी उपमा तो दी ही जाती है। भगवानका ज्ञान पदार्थोको देख चुका है, देख रहा है और देखता रहेगा। द्रव्यका अपने अनुरूप कार्य कभी खतम नही होता। ऐसा नही है कि भगवानने तीनो लोकोके वा अलोकका पूर्णतया त्रिकालवर्ती जान लिया, सो एक बार जान लेने पर बार बार उसीको क्यो जानते रहेगे, जानना आत्माका स्वभाव है, वह कभी खतम हो नही सकता। वह खतम हो तो द्रव्य ही खतम हो जाय। सर्वज्ञ भगवान पदार्थोको जानते हुए भी निर्विकल्प रहते है। जैसे—बालक नजदीक और पासकी सब चीजोको जानता हुआ और उनकी निकटता या दूरीको जानता हुआ भी निकट और दूरके विकल्पसे रहित है। उसी तरह भगवान पदार्थोको वे जिस क्षेत्रमे जैसे है उस क्षेत्रमे उस रूप जानते है किंतु यह पदार्थ दूर है यह पदार्थ इसरे पास ऐसा विकल्प नही होता, निर्विकल्प रूपसे जानते अवश्य है। श्रुतज्ञानमे जैसा विकल्प केवलज्ञानमे नही है। क्षेत्रके समान कालमे भी यही बात है। जिस समय पदार्थ जैसा है वह उस समय ही वैसा ही जाना जाता है, लेकिन उसमें कालका विकल्प नही। ज्ञानमे ऐसा ही उत्पाद व्यय होता है। आज जिसे वर्तमान रूपसे जान रहे है वह पीछे भूतरूपसे जानते है ऐसा विकल्प उनके ज्ञानमे नही होता। ऐसा विकल्प नही होता कि यह भूत है, यह भविष्यत है आदि। ज्ञानमे तत्कालकी पर्याय उस उस रूपसे झलकती अवश्य रहती है। क्षेत्रकृत आंशिक निर्विकल्पता तो हमको भी है। बैठे हुए सबको हम जान रहे है लेकिन पास दूरका विकल्प नही, दृष्टि इस ओर नही देनेसे। जो जहाँ जैसा अवस्थित है उसको वैसा जान करके भी उसमे दूर पास आदिका विकल्प नही होता। इसी तरह ऊर्ध्वतासामान्यमे भी भूत वर्तमान और भविष्यतका विकल्प भगवानके नही होता। इसीलिये निर्विकल्पज्ञानको कूटस्थ या जडवत् कह दिया है। नही तो छद्मस्थ हम मलीनज्ञानका और सिद्ध भगवान निर्मलज्ञानका विकल्प करते यह कहलावे। सो नही कहलाता। यदि यह तरंगभूत भविष्यत कहलावे। वर्तमानकी न आवे तो छद्मस्थका ज्ञान भी

रजोमलखेदविमुक्त विगात्र निरन्तर नित्यसुखामृतपात्र ।
सुदर्शनराजित नाथ विमोह प्रसीद विशुद्ध ससिद्ध समूह ॥

रजोमलखेदविमुक्त विगात्र सहजसिद्धकी उपासना—आप ज्ञानावरण आदिरज वही हुआ मल, अथवा उससे होनेवाला जो रागद्वेष आदि मल उससे आप रहित हो गये है। अत. उससे उत्पन्न होने वाला जो दु.ख उससे भी आप रहित हो गये है। स्वभावमे अनंत सुख होते हुए भी पर्यायमे कर्मरजके संगसे नाना विकल्प होते थे, जो कि दु.ख रूप है, सिद्धो ने कर्मको क्षय करके सारे दु.खोका अंत कर दिया है। विगात्र ? हे प्रभो ! आप ज्ञानशरीरी हो, इस पौद्गलिक शरीरसे रहित हो। शरीरकी मूर्च्छाके कारण आत्मा की प्रभुता प्रगट नही हो पाती थी। उनमे रची हुई इन्द्रियोके द्वारा विषय और उनसे होने वाले कषाय और कर्मजाल चलते रहते थे। इस तरह आत्माकी लघुता अनादिकालसे बन रही थी। जब स्वभावका बोध हुआ तो वह शरीरविषय कषाय और ज्ञानावरणादि कर्मरज सभी नष्ट हुए। कषायोके जानेपर भी शरीर तब तक साथमे था तब तक केवल जीवनमुक्त थे। सिद्ध नही किन्तु उसका संग छूटा कि आप सुसिद्धके पदमे प्रतिष्ठित हुए, ज्ञानमय हुए, ज्ञान शरीरी बने। यद्यपि वह ज्ञान शरीरीपन अनादिसे था, पर पुद्गलशरीर उसको प्रच्छन्न किये था जीव की मुग्ध अवस्थामे।

निरन्तरनित्यसुखामृतपात्र सहजसिद्धका अभिनन्दन—निरन्तरनित्य सुखामृत पात्र—आप सर्वदा नित्य सुख रूपी अमृतके पात्र है। संसारके जितने भी सुख है वे सुखाभास है, सो भी ये निरन्तर नही रहते। संसारी प्राणीको सुखाभास भी एकसा कहाँ रहता है ? कौन सर्वदा सुखी रहता है ? चिता, शल्य, उद्वेग, निरुत्साह, भय और तृष्णा सताया ही करती है। महा सुखिया कहलाने वाले पुरुषोको भी सुखाभास निरन्तर नही रहता। संसारका स्वरूप भी ऐसा ही है। विवाह आदि शुभ और सुखके कहलाने वाले कार्य भी कितनी आकुलता पूर्ण होते है ? रातो रात जागकर अति परिश्रम कर दूसरोकी आवभगत-आर्जू मिन्नत कर परेशान हो जाते है, मानमर्यादाका भय हमेशा बना रहता, दोनो पक्षोमे विसंवाद न हो, आगन्तुक अतिथियोमे कोई नाराज न हो जाय आदि अनेकानेक विकल्प चित्तको चैन नही लेने देते। इसी तरह अन्य अन्य सुखके कहे जाने वाले कार्य दु.खपूर्ण है। तो ये सुखाभास होकर भी सान्तर है, क्षणस्थायी है, क्योकि पराधीन है। पराधीन चीज निरन्तर नही रहती। स्वाधीन चीज ही निरन्तर रहती। पराधीनतामे परेशानी ही रहती है। परेशानी नाम पड़ा इसलिये कि परका ईश परेश कहलाया और भाव अर्थमे आनी प्रत्यय हो गया। अर्थात् परके स्वामीपनेको परेशानी कहते। जहाँ परका स्वामीपना है वहाँ आकुलता है, श्रम है, अशांति है। अत उस परके काममे पडनेको ही परेशानी कह दिया। संसारके सब काम

जिसका नाम वस्तुन नही कह सकते ।·क्षायिक सम्यक्त्व नाम तो औपाधिक नाम है । हे नाथ ! आप विमोह है—मोहसे सर्वथा रहित है । मोह जीवको बहुत रुलाता है इसीका अस्तित्व मेटना सब सुखोका मूलाधार है । मोहके नाश होनेपर ही परमपद प्रगट होता है । अतः जब उसपर दृष्टि जाती तब भक्त भगवान और अपनेमे मिलान करता और कहता आप तो मोहसे सर्वथा रहित है । मेरा स्वभाव भी ऐसा ही है किन्तु मै पर्यायमे मलिन हो रहा हू । हे सिद्धोके समूह विशुद्ध आत्मन ! मुझपर प्रसन्न होओ, मेरी भी प्रसन्नता अर्थात् निर्मलता प्रगट हो । ऐसे गुणानुवादसे मोक्षका मार्ग दृढ होता है, इसमे कोई सन्देह नही । नरामरवदित निर्मलभाव अनन्तमुनीश्वर पूज्य विहाव । रुदोदय विश्व महेश विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ।।

नरामरवंदित सहजसिद्धकी उपासना—हे विशुद्ध सुसिद्ध समूह ! प्रसन्न होओ । आप कैसे है ? मनुष्य और देवोसे वन्दनीक है । नृ धातुसे जो कि ले जाने अर्थमे आती है 'नर' शव्द बना है । कहा ले जाय–यह अर्थ लगाना हमारी मरजीपर है । धर्मके प्रकरणमे, ससारके दु खोसे छुडाकर जो मोक्षमे ले जाय उसे नर कहते है । लोकमे भी हर चीजको ले जाने वाला प्राय मनुष्य ही है । मोटरगाडी आदिको ले जाने वाला मनुष्य ही है और वस्तुत अपनेको संसार अथवा मोक्षपर्यायमे भी ले जाने वाला मनुष्य अवस्था आत्मा ही है, अर्थवाले नर शव्दसे मनुष्यकी उत्कृष्टता प्रगट होती है । देव भी उत्कृष्ट है । कई लौकिक मनुष्य देवोकी आराधना करते है तथा ऋद्धि और ऐहिक भोगविलासोकी प्रचुरताके कारण देव भी उत्कृष्ट होता है ऐसे उत्कृष्ट नर और अमर द्वारा वन्दनीक होनेसे आप उत्कृष्टोमे उत्कृष्ट है । वैसे तो सारे जीव अमर है पर भगवान ही सर्वथा अमर है, जो कभी भी मुक्त से संसारी नही वन सकते । फिर भी ससारमे जिसकी अपमृत्यु नही होती है वही अमर है, ऐसे जीव देव है । प्रश्न हो सकता है कि भोगभूमिया भी नही मरते तो उत्तर यह है कि सव मनुष्य अपमृत्यु रहित नही है, कर्म भूमियाके अपमृत्यु होती है, अत· मनुष्यके लिये अमर शव्द रूढ नही है । यदि कहो कि नारकी भी अपमृत्यु वाले है वे अमर क्यो नही ? तो इसलिये नही कि वे अमर होना नही चाहते । जो अमर नही होना चाहते उन्हे अमर कहा जाय तो शोभा नही देता । अत देवोके ही अमर शव्द लागू है । ऐसे नर और अमर से सिद्धदेव वन्दनीक है । मनुष्य और देवोमे भी सम्यग्दृष्टि, देव और मनुष्य सिद्ध भगवान की आराधना ठीक कर सकते है क्योकि वे ही भगवानको जान सकते है, अनुभवमे ला सकते है, उनकी प्रतिष्ठा समझ सकते है । वहुतसे भाई मन्दिरमे भगवानके दर्शन कर जाते लेकिन भगवान और दर्शन क्या चीज है ? जीवनभर यह नही समझ पाते, क्योकि उन्होने अपनेको समझा नही । यही कारण है कि निर्मलता नही आती और क्रोध, माया, मान और कलह

प्रादिम प्रवृत्त होते रहते तो सिद्धकी आराधना वही कर सकते जो सम्यग्दृष्टि हो। जिसके चैतन्यकी अनुभूति हो गई वही पूजा वन्दना कर सकते है। सच पूछो तो जिसका आत्मा पर अधिकार है, वही भगवानको जानता। भगवानको जाननेसे अपना जानना होता, पर अपनको जाननेसे भगवान वस्तुत जाना जाता। देवदर्शन करनेसे जो सम्यग्दर्शन बताया वह इस तरह कि जिनेन्द्र भगवान या उनकी मूर्तिका दर्शन, स्पनिमित्त पाकर आत्माभ स्वरूपकी प्राप्ति होती है, आत्मबोध होता है, इसके पीछे ही वह भगवानका अनुभव कर सकता है। पहिले भगवानका अनुभव होकर पीछे सम्यग्दर्शन आत्मानुभव होता हो, यह बात नही है। जिन अथवा जिनबिम्ब दर्शनसे आत्मानुभवके योग्य निर्मलता अवश्य आती है। भगवानको जाननेसे स्वरूपकी दृढता होती है। तो वे वदना पूजा करनेवाले नर और अमर चैतन्य अनुभूतिवाले होते हैं।

निर्मलभाव सहजसिद्धका अभिनन्दन—मर्त्य अमर्त्य द्वारा वन्दनीय प्रभु आप कैसे है ? निर्मल भाव रागादि मलसे रहित परिणाम वाले है। पहिले अपने निर्मल स्वभावको जाने तो वे प्रतिष्ठा पाते है। नही तो नही। किसी राजाने दो चित्रकारोको सुन्दर चित्र बनानेकी आज्ञा दी और सर्वोत्तम चित्रके उपलक्षमे उचित पुरस्कार घोषित किया। एक कमरेकी आमने सामनेकी दोनो दीवारोपर दोनो चित्रकारोने अपना अपना चित्र बनाना प्रारभ कर दिया। दोनोके बीच परदा डाल दिया गया ताकि एक दूसरेके चित्रको न देखे। एक चित्रकार सुन्दर रगोंके द्वारा अपनी कलाका काम ले रहा था और दूसरा केवल दीवालको घोट घोटकर चिकना करनेमे तन्मय था। जब अवधि पूर्ण हुई तो राजा दोनो कलाकारोकी कलाए देखने आया, पहिले उसने रगवाला चित्र देखा तो प्रसन्न हुआ और जब दूसरी दीवालपरसे परदा हटाकर चित्र देखा तो और भी अधिक प्रसन्नता हुई, क्योकि उस दीवालपर सामनेकी दीवालका प्रतिबिम्ब पडकर कलाका सुन्दरतम रूप दृष्टिगोचर होता था। ठीक इसी तरह जिस भक्तका हृदय जितना निर्मल होता है उसके हृदयमे उतनी ही प्रतिष्ठा भगवानकी होती है। अत भगवानकी भक्तिके लिए भी सम्यग्दर्शन चाहिए। प्रथम तो भाव सम्यग्दर्शनका हो, चारित्र तो आये बिना रहता नही। न राग न द्वेष न विषाद और न उमग, ऐसे अमल निज चैतन्यकी दृष्टिसे सम्यग्दर्शन होता है। हे सिद्धप्रभु आपकी यही प्रक्रिया हुई। जो सम्यक्त्व धारण करनेसे आप अविनाशी बन, ऐसे हे स्व प्रभु हे था।

अनन्तमुनीश्वरपूज्य विशद सहजसिद्धकी उपासना—अनन्त मुनीश्वर पूज्य ! हे प्रभो ! आप अनन्त मुनीश्वरो द्वारा पूज्य है। यहाँ प्रश्न होता है कि जब कम तो कम मुनि नियम स्थानक निश्चय अनन्त भी सामिल है होते है तो अनन्त मुनीश्वरो द्वारा कैसे पूज्य बता दिया ? तो उत्तर है कि जितने भूतकालमे हो चुके अनन्तानन्त है [illegible]

मिलाकर अनन्त होगे उनके द्वारा वन्दनीक है। जितने भी सिद्ध हुए है या होवेंगे वे सब पहिले मुनि अवस्थामे आये थे और सिद्धोंकी आराधना की थी तब सिद्ध हुए और आगेको भी यही बात है। और स्वरूपपरिणमनके भावसे देखो तो स्वयं स्वयंके द्वारा पूज्य है। वस्तुत. किसीमे किसीके पूजनेकी ताकत नही हे। मुनि ज्ञानवानको कहते है।' मनु' धातुसे अवबोधन अर्थमे मुनि शब्द बना हे। जो मनन कर रहे है, स्वरूपाचरणचारित्रमें है ऐसे अनन्त मुनियोके द्वारा चैतन्यदेवकी आराधना होती है। जिसका अंत नही उसका आदि भी नही होता। प्राणीके संसारका अंत हो जाता लेकिन उसका आदि नही ऐसा कहा जाता है, लेकिन संसार कोई ध्रुव चीज नही है। वह तो पर्याय है। पर्याय क्षणिक है। और जो क्षणिक है वह सादिसांत है, संसार तो परम्परा अनादि है चैतन्यका अंत नही तो आदि भी नही और बीच भी क्या? तो आदि, मध्य, अंत तीनोसे रहित (उपल क्षणसे) ऐसे मुनिभाव है, मुनिभाव कहो या चैतन्यभाव अनंत कहलाया और उस अनंत चैतन्यभावका आधार आत्मा है, उससे हे भगवन आप पूज्य है। गुणानुरागको पूजा कहते है और किसी वस्तुका नाम पूजा नही। जल चंदन आदि द्रव्य उठाने धरनेको ही पूजा नही कहते, किन्तु उस क्रियाके साथ पूजाके भाव हो सकते है अत उस बाह्य प्रवृत्तिको भी पूजा कह देते हैं। तो आप अनन्त मुनीश्वरोके द्वारा पूज्य हो अर्थात् इस ही आत्माके द्वारा यही आत्मा पूजाका विषय है और हे चैतन्यदेव! अनन्त मुनी श्वर आपमे अनुराग करते है अत: उनसे पूज्य है तथा आप विहाव सम्पूर्ण आकुलताओसे रहित है। वे आकुलता आप के स्वभावमे थी ही नही, उपाधिसे जो होती है वे परकृत है, उनका भी अभाव कर्मक्षय सिद्धमे हो जाता है और यह सहजसिद्ध आत्मा स्वभावसे विहाव ही है।

सदोदय सहजसिद्धकी उपासना—सदोदय! हे भगवन! आप सदा उदितरूप हो, कर्मक्षयसिद्ध भगवान पर्यायसे भी सदा उदितरूप है। देखो—इस चैतन्यतत्त्वके बारेमे अनेक रूप दार्शनिकोने माने है। कोई कहता है कि सारे संसारका मूल एक व्यापी सदाशिव और अमूर्त ब्रह्म है। यह कहना चैतन्यकी कलाको कितना प्रगट करता है? यदि सृष्टिकर्तृत्वका विरोध न करके दृष्टि अपेक्षासे उसका हम समर्थन करना चाहे तो भी कर सकते। उक्त चारों बातें आत्मापर घटाओ। सदाशिव भगवानको जो एक मानते, उस एकपनेपर ख्याल करे तो अपनी आत्मा एक ही है। जिसकी देव नारकी आदि पर्यायें चलती रहती। जिसकी पर्याये चलती है, उसे यथार्थतया देखे, परिणमनके संपर्कसे देखे तो न देख सकेगे, उसे तो पर्यायको गौण कर सामान्यदृष्टिसे देखे तो अनुभवमे आ सकता है, ऐसा अनुभवमे आनेवाला जब पर्यायसे नही दिखता, स्वभावसे दिखाता तो मिल गया सदाशिव। अन्यत्र नही खुदमे खुद है वह। और उस सामान्य एकमे हमारा और आपका आत्मा ऐसा भिन्न

विकल्प हुवा होना यह तरग जब व्यक्तिपर नजर होती। और व्यक्तिकी नजर मात्र पर्याय की नजर कहलाई और पर्याय दृष्टिका करना नही चाहते। तो अपना और परका सदा शिव ऐसी कल्पना नही होती। अवान्तरसत्ताका नही उसमे महासत्ताका अनुभव होगा। अत उनको सामान्य सत्तासे समझानेके लिये एक कहेगे कि वह सदाशिव एक है। यह एक सामान्य सत्को दृष्टिका एक रूप है। आगे अपनी सृष्टिका कर्ता स्वय आप हैं, इसको रूपी और अरूपीमे से देखें तो अरूपी ही है। आत्मा शरीराकार है क्या? नही शरीर पुद्गलका आकार है आत्माका नही, उपचारसे भले ही शरीराकार कहो। भगवानसिद्धको अतिम शरीराकारसे समझेंगे तो समझमे न आ सकेगा, सिद्धत्वको समझनेके लिये दृष्टिको गभीर करनी होगी, अमूर्त या अरूपी आत्माको उसी ज्ञानस्वभावके रूपसे परखना होगा जो ध्रुव एक है। ऐसे गुणवाला आत्मा रहता कहाँ है? जब सत् सामान्यम जीव समुदायको एक रूपसे देखा तो यहाँ भी एक जीवका विचार न कर सब जीवोके ध्यानसे देखना चाहिये, तब सारे ससारमे जीव ठसाठस भरे हुए हैं, अत चैतन्य भगवान सर्वव्यापक भी है। ऐसा प्रभु सहजसिद्ध है। वह तथा कर्मक्षय सिद्ध हमपर प्रसन्न हो। वस्तुत प्रसन्न निज सहजसिद्ध भगवान ही हो सकता।

विश्वमहेश सहजसिद्ध प्रभुकी अभ्यर्चना—हे प्रभो! आप विश्व महान हैं। जिसको सब जीव पूजें और वह स्वय पुजें वे हुए विश्वमहान, ऐसे हे देव प्रसन्न होओ। ससारमे अनेक तरह तरहसे ईश्वरकी कल्पना करते हैं लेकिन आप तो अपने ही रूप हो। लोगोंके चित्तमे वे ईश्वर केवल मान्यता या कल्पनाके ही ईश्वर होते हैं वस्तुत [illegible] तो शुद्ध बुद्ध जैसा है सो है। वह अपने गुणोसे विश्वत सब तरफसे प्रदेश [illegible] गुणादि प्रभुत्वसे व्याप्त है। अत वह विश्व महेश है। अपना सहजसिद्ध [illegible] भी ऐसा है। वस्तुत पर-ईश्वरकी कल्पना और मान्यतामे सारा ससार डूब रहा है, भ्रमण कर रहा है, दुखी हो रहा है, यदि वह अपने प्रभुका जो प्रभुत्वसे परिपूर्ण है देखें तो उसका [illegible] मिट जाय, उसका ईश्वर प्रगट होकर सदाके लिये शुद्ध चैतन्य रूप परिणमन करने लगे, [illegible] विकार पैदा न हो। पर ईश्वर है तो अवश्य किन्तु वह तो अपने ही [illegible] है। [illegible] तो हमारे भगवन्तके स्मरण करानेके लिये [illegible] स्वरूप है [illegible] है।

विदग्ध [illegible] [illegible] परान्दर [illegible] [illegible]।
विवोप [illegible] [illegible] [illegible], प्रसीद [illegible] [illegible] ॥

[illegible]—हे [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] ही ठगाया जाता है वह है [illegible], [illegible] [illegible] ठगाया जाता है। [illegible] [illegible] ही [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible]

कपटसे उनकी आत्मा पतित होती रहती, कर्म बंध पाप रूप किया करती। तब वर्तमान और भविष्य आकुलता पूर्ण बन जाता। लेकिन जो अपने आपके स्वरूपमें रम रहे हैं वे हैं विदंभ, मायासे सर्वथा रहित। तरक्की वही करता है, जो अपना काम करता चला जाय, विरोध या विरोधीपर दृष्टिपात न करे, जिसको अपने स्थानपर जल्दी पहुंचना होता है वह द्रुत-गतिसे उस ओर बढता है, बीचमे रुकता नही और न किसीकी बातोमे समय खर्च करता। तब वह शीघ्र ही अपने इष्ट स्थानपर पहुंच जाता। स्वरूपकी ओर जाने वाले भी अपनी ही ओर चले जाते है परकी तरफ लक्ष्य नही करते। इस तरह आप अपने निश्चय और निश्चल मंजिल पर पहुंच चुके है। दंभसे अतमे तिरस्कार और दु.ख होता उसका एक उदा-हरण इस प्रकार है—एक स्त्री अपने पतिसे हमेशा कपटका व्यवहार किया करती थी, एक दिन पतिको नीचा दिखानेके लिये वह पेटके दर्दका बहाना लेकर लेट गई और रोने चीखने लगी। पति घबडाया, स्त्रीने कहा छुटपनमे भी ऐसा दर्द हो जाता था सो हमारा जो सबसे प्यारा होता था वह अपने सब बाल मुडा लेता तो दर्द शात हो जाता। तब उसने शीघ्र ही अपने सिरके व दाढी मूछके केश मुड़वा लिये, स्त्री चंगीवा रूप ले उठ बैठी और दूसरे दिन आटा पीसते समय गाती है—अपनी टेक रखाई पतिकी मूछ मुडाई। पति उसकी चालबाजी जान गया। अब उससे न रहा गया और स्त्रीको नीचा दिखानेके लिये एक ढंग रचा कि अपनी सुसराल वालोको एक चिट्ठी भेजी, उसमे लिख दिया कि सवेरा होते होते आप सब घरके व्यक्ति अपना अपना सिर मूछ वगैरह मुड़ाकर आओ तो आपकी लड़की (ससुरके प्रति लिखता है) की जान बच सकती है अन्यथा दिन निकलनेपर वह मर जायगी, ऐसा ही रोग है देवताने ऐसा बताया है। चिट्ठी पाते ही स्त्रीके माता पिता और भाई वगैरह सबोने अपने-अपने केश मुंडवाना शुरू किये और रातो रात दामादके गॉव चल दिये। सवेरा होने को ही था, पतिने देख लिया कि सुसरालकी मुंडन पल्टन आ रही है, उसी समय जब कि स्त्री चक्की पीसते समय वह गीत दुहरा रही थी कि पतिकी मूंछ मुंडाई अपनी टेक रखाई। तब पति तुरन्त ही छंद पूर्ति करता है कि पीछे देख लुगाई मुंडनकी पल्टन आई। स्त्री जब पीछे देखती है तो सचमुच मॉ बाप और भाई वगैरह पीहरके सब व्यक्ति मूंड मुंडाकर भागे आ रहे है, इससे उसको अत्यधिक तिरस्कृत और दुःखी होना पडा। दभका फल दुःख ही है, जो जितना सुखी है वह उतना ही निष्कपट है, अथवा जो जितना निष्कपट है वह उतना ही सुखी है। तो भगवान पूर्ण सुखी है अतः पूर्ण निष्छल होने ही चाहिये। उनकी आत्मा सर्दत चैतन्यप्रकाशसे सदा प्रकाशमान एकरूप रहती है। देखो दभ अंत तक निभता नही रोके भी अटक जाते है। अपने कार्यमे वह सफल नही हो पाता। पर वस्तुका उपयोग करना यह बड़ा दभ है। अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमे न ठहर कर, सेवा करूंगा और भक्ति

आदि रूपमे भी कुछ करना सो कपट ही है। क्योकि आत्मस्वरूप और भक्ति और करता कुछ और भांति, दुकान धन और परिवार आदि तो क्या, व्रत संयम और उपवास आदि भी जो आत्मामे स्वभाव नही है उनमे रुचि करना सहजभावके प्रति दंभ है। सो इससे आत्मा स्वस्थ नही होती है। हे भगवन आप इससे रहित हैं और मैं भी स्वभावमे सर्वथा दंभ रहित हू। जो जान बूझकर और बाहिरी लाग लपेटकर कपट कर रहा है, अपना स्वरूप छुपा रहा है, अपनेको पररूप प्रगट कर रहा है यह अपने अज्ञानका फल है। मावता जरूर यह यह है कि मैंने तो चतुराई की किन्तु की अज्ञानता।

वितृष्ण सहजसिद्धका अभिवन्दन—*वितृष्ण! हे भगवन आप तृष्णारहित हैं।* लोभ कषाय जब प्रगट होती है तब वह बाह्य वस्तुके आश्रयको लेकर ही होती है। कहा जाय कि बाह्य पदार्थका ध्यान न करो और लोभ करो सो नही बनता, वह तृष्णा तभी प्रगट होती जब बाह्य पदार्थको विषय किया जाता। भगवान् आप सम्पूर्ण पदार्थोंके ज्ञाता हैं, फिर भी आपमे राग नही है, लोभ नही है। सामान्यतया ज्ञानमे विशुद्ध ज्ञाता स्वभाव आता। *निज आत्मतत्त्वके सिवाय किसीमे राग या रुचि करना तृष्णा ही है।* आत्माके सिवा चाहे देह शरीर हो, कषाय हो या अल्पज्ञान स्वभाव ज्ञान नही) हो, उन सबमे रुचि करना तृष्णा है। परमाणु मात्र भी जिसे राग आवे वह तृष्णालु और मिथ्यादृष्टि भी है। कोई कहे कि हमको एक ही चीजमे ममत्व है और किसीमे नही तो उनका दर्जा सम्यग्दर्शन हो जायगा सो ऐसी बात नही है। उसकी तृष्णा व मिथ्यात्वकी तीव्रताका ही यह रूप है कि उस एक (चाहे वह पुत्र हो स्त्री हो पति हो अथवा पिता हो [illegible]) पर ही ममता अटक गई है। उस एकपर इतनी तीव्र ममता है कि [illegible] किया है। [illegible] भी आसक्तिसे ज्ञान [illegible] नही। देख लो—परके कुछ व्यक्तियोमे स्नेह कम होकर बाहिरमे उतना ही स्नेह अधिक लोगोंपर हो जाता, मगर उतने ही अधिक प्राणियोंसे प्रेम करने लगना या कर सकता। ऐसी हालतमे मंद राग भी हो जाता। यह बात सर्वथा एकांत नही है, हो सकता है कि [illegible] और [illegible] मोह छोड़कर भी [illegible] रहना पड़ता हो। और हो सकता है कि परके बाहिर दुनियाके [illegible] रागको तीव्र किया जा रहा हो। [illegible] दृष्टिकोण [illegible] चाहिये। हे प्रभो! आपमे विभावभाव सर्वथा नही है। [illegible] वितृष्ण हैं और हे सहजसिद्ध! तुम भी वितृष्ण स्वभाव हो। स्वभावमें विभाव [illegible] नहीं [illegible]।

विदोष व विनिद्र सहजसिद्धकी उपासना—हे भगवन आप [illegible] है। स्वभावका स्वरूप निर्दोष है। [illegible]। यह तो एक [illegible] है, इसकी [illegible] है। [illegible]

आदि नही होते। 'जन्म जरा तिरखा क्षुधा विस्मय आरत खेद। रोग शोक मद मोह भय निद्रा चिंता स्वेद॥ रागद्वेष, 'अरु मरण' मे मोह जनित सारे दोष अरहंत भगवानमे भी नही होते। भगवानके मरण भी नही, उनके आयुका अंत मरण नही कहलाना, निर्वाण कहलाता है। उन्हे शीत आदिकी बाधा नही, भूख प्यासकी बाधा नही। यदि ये बाधाएं उनमे हो तो वे पूर्णज्ञानी और वीतरागी भी नही रह सकते। वे किसीके द्वारा स्पर्श भी नही किये जा सकते। विहार भी अकेला हो होता है, ५ हजार धनुप ऊपर उनकी स्थिति होती है। उन्हे कोई तरहका उपद्रव नही हो सकता, उस अरहत अवस्थाका ऐसा ही प्रभाव है। वे स्वरूपमे लीन रहते है ध्वनि भी निकलती है तो हम साधारण पुरुषोसे विचित्र, विना इच्छा के तीर्थङ्कर प्रकृतिके उदयसे और भव्योके कल्याणभावनाकी प्रेरणासे स्वयमेव निरक्षरी ध्वनि खिरती है। उनके रोग आदिका दोष भी नही है, क्योकि शरीर परमऔदारिक है, पवित्र और प्रकाशमान परमाणुओसे अरहंतका शरीर होता है। सामान्यकेवलीरूप जो अरहंत होते है, छद्मस्थ अवस्थामे शरीर कुरूप और रोगी भी रहा हो, वृद्ध और वालरूप रहा हो पर केवलज्ञान हो जानेपर उसमे ऐसा अपूर्व परिवर्तन हो जाता है कि अतिसुन्दर प्रकाशमान रोग वृद्धादि दशारहित, परमसौम्य होता है, केवल नोकर्म वर्गणाओसे शरीरकी पुष्टि होती है, हम जैसा आहार उनके शरीरको आवश्यक नही रहता, किसी भी प्रकार दोष उनके नही है तथा देहदोषाभावके कारण आप विनिद्र हो, हे प्रभो! आप निद्रासे रहित है। शरीर नहो तो निद्रा क्या होगी? अरहत भगवानके भी निद्रा नही आती, क्योकि निद्रा पैदा करने वाला कर्म उनके नही रहा। देवोके भी निद्राके उदय होते भी उन्हे नीद नही आती, आंखोको पलके नही झपती, फिर केवलीका तो कुछ आश्चर्य ही नही और असली निद्रा तो मोहकी है, जिसमे अनेक आपत्तियाँ है, क्लेश है, यह हमारी आत्मा भी स्वभावत विनिद्र है, शरीर वा कर्मोकी दशाओसे वा कर्मके निमित्तसे होने वाले विकारी भावोसे रहित है।

परात्पर सहजसिद्धकी उपासना—परात्पर! उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट है आप। उत्कृष्ट के विकल्पोसे भी आप रहित है। जिन जिन तत्त्वोपर विकल्प दृष्टि होती वह वह सवपर है, शरीरपर दृष्टि गई तो वह पर हो गया, कषायपर दृष्टि गई तो वह पर हो गया। केवलज्ञानपर दृष्टि गई तो वह भी पर हो गया, दृष्टि भी पर है, चैतन्यके स्वलक्षणसे न्यारा होने से। भगवानपर दृष्टि गई तो वह भी पर हुआ। मैं सत्तावान चैतन्यद्रव्य हू आदि दृष्टिसे जिसे जाना वह भी पर है, मै ज्ञानवान हू इस दृष्टिसे जो निरखा गया वह भी पर है और ज्ञान दूसरेको नही निरखता, अपनेको ही देखता है। अपना परिणमन अपने को देखता। ज्ञेयाकार ज्ञानमे जो पड़ता वह भी पर है। जहाँ दृष्टि और दृष्टा एक हो वह मै

एक चैतन्यस्वभाव हू । मैं एक असाधारण चैतन्य स्वभाव रखता हू, उसके विषयमे जो तरगें हैं वह मैं नही हू, जिसकी तरगें उठती है उसे दृष्टिमे लाये परतु किसी दृष्टिसे उसमे जो आकार बनेगा, वह सब पर है । जहाँ ध्यान ध्याता और ध्येयका विकल्प रहे और उससे निज भी समझा जाय तो वह भी पर है । उससे रहित एक मैं हू । ऐसे परात्पर भगवान प्रसन्न हो, पर्याय निर्मल हो ।

शकर सहजसिद्धकी अभ्यर्चना––शकर–श–सुख करोतीति शकर । भगवान अनन्त सुखमय हैं और उनका ध्यान कर प्राणी भी अनन्त सुखको प्राप्त होता है इस दृष्टिसे व शकर हैं । अरहत और सिद्ध परमात्मा अनन्त सुखसे परिपूर्ण है, और द्रव्यसे हमारी आत्मा भी । निश्चयत आपके शकर आप हैं । और भगवान शकर कब बने ? जब इनके सिरसे गगा वह निकली । चेतनका सिर ज्ञानगुण है, उससे प्रवाहशील शक्ति–ज्ञान परिणति गगा है । यह निमर रूपसे प्रवाहित होती रहती है, थमती नही है । भगवानके भी केवलज्ञानकी परिणति होनेपर वह रुकता नही है, प्रतिक्षण एकसा वेरोक टोक बहता रहता है, अत ज्ञान-गगाको प्रवाहित करने वाले भगवान वीतराग सिद्धदेव शकर हैं । जब इस आत्मामे केवल ज्ञान गगा वह जाय तब यह शकर है, जब तक केवलज्ञान न हो तब तक दुःशकर है । और ये सहजसिद्ध भगवान भी शकर हैं । जब कभी भी श (सुख) होगा तो इसीसे होगा । आखिर सुखकी खदान तो यही है । यह शकर जो स्थिर रहता है और ज्ञानगगा बहती रहती है वह अनादि अनन्त अहेतुक सहजसिद्ध भगवान हमारा आत्मा ही है । मेरा शकर मुझमे ही है । सुखके खातिर दूसरेमे शकरकी कल्पना क्यो करना ?

सार सहजसिद्धकी उपासना – सार–गति, गच्छति, उत्कृष्टत्वमिति सार । लोगो ने इसही चैतन्यके विषयमे नाना कल्पनाए करके इसे उत्कृष्टतत्त्व माना है । शब्दाद्वैत, चित्राद्वैत, ज्ञानाद्वैत आदि कहकर एक चैतन्यकी ही स्तुति की है । उन्हें स्याद्वादका सहारा न मिल सका और उनका ज्ञान एकागी रहा यह बात दूसरी है । जिनका हम यथार्थदृष्टि हू होकर जानके सब पदार्थोका मूल पहिचान पाते हैं इसके ही विषयमें नाना कल्पनाए की हैं । यह भगवान निर्विकल्पकज्ञानसे देखा जा सकता है, सविकल्पकसे न नही देखा जा सकता । ऐसे भगवान ! प्रसन्न होओ । मैंने वेदा । जैन सिद्धान्त ब्रह्मको नही मानता, माना है तो एक ब्रह्माद्वैतका देखने के लिये माना है । जैन सिद्धान्त तो ऐसा कहता है कि जो रागद्वेषकी धारासे रहित चैतन्य सत्व है वह हमारा आराध्य है । ऐसा गुण जिनमे भी पाया जाय, चाहे वह ऋषभ हो, महावीर हो या और कोई [illegible] हो, राम हो, हनुमान हो, विष्णु नाम वाला हो, शकर नाम वाला हो । [illegible] है । किन्तु पुराणोमे जिनका चरित्र लिखा है वह ही आराध्य माना है । [illegible]

चरित्र ऐसा नही उन्हे आराध्य नही मानते । ऐसे हम और आप सभी आराध्य बन सकते है । मनुष्य भव पाया है तो हमे अपना वैभव पानेकी चेष्टा करना चाहिये । सारा उपयोग परमें लगा कर जीवन वर्बाद न करना चाहिये । निज चैतन्यदेव ही सार वस्तु है ।

वितन्द्र सहजसिद्धकी उपासना--वितन्द्र ! हे प्रभो ! आप तन्द्रारहित हो, जो प्रमाद मे नही, कषायमे नही वह वितन्द्र होता है । जो सतन्द्र है वह स्वरूपकी सावधानी नही कर सकता । मोहकी तन्द्रा वडी भारी है । एक वडा पहलवान जो हजारोंको पछाड़ता हो, एक बडा व्यापारी जो करोडोका व्यापार चलाता हो, एक बडा कलाकार जो अनोखी रचनायें करता हो ये सब तन्द्रावाले है । क्योकि स्वरूपकी उन्हे खबर नही है । यत्न उसमे न करें तो क्या करे ? वे जीव आलसी है जो स्वरूपकी सावधानी नही कर सकते । निर्मल परिणामो को करते करते अन्तर्मुहूर्तमे क्षणेक विश्राम लेना पडता है और शरीरका श्रम करनेवाला तो लगातार ६ घटे भी मेहनत कर सकता है । निर्वलोके प्रथम पुरुपार्थमे ऐसा ही होता है । विसंयोजनके बाद अन्तर्मुहूर्त वाद विश्राम लेना पडता है तव आगे चढ़ सकता है । तो आलस्य है परकीय ध्यान और तो निरालसीपन है तो एक अपने उपयोगमे लीन होता । लेकिन प्रभो आप निरन्तर अपनेमे लीन रहते हो, थकते नही हो, विश्राम नही लेना पड़ता । हे चैतन्य-देव ! सामान्यदृष्टिसे पहिचाने गये तुम वितन्द्र हो ।

विकोप सहजसिद्धकी उपासना—विकोप ! आप क्रोधरहित हो । भगवान या सहज सिद्ध भगवानके क्रोध नही है । कर्मक्षयभगवानके द्रव्य और पर्याय दोनोमे क्रोध नही किंतु सहजसिद्ध हमारी आत्मामे केवल द्रव्यसे । सामान्यध्रुव एकस्वभावी होता है । उस दृष्टिमें वे सिद्ध भगवान और मै एक ही हू । अरहंतदेव भी और इससे पहिलेकी अवस्था यतिरूप जो श्रेणियोमे लगे रहते वे भी (विशिष्ट मुनि) विकोप है । हे नाथ ! आपने क्रोध तो पहिले ही खतम कर दिया था । फिर कर्मोका नाश करनेका आपके कैसे पुरुपार्थ हो गया भगवन ! ऐसा वितर्क होता है देखो भैया ! संसारी प्राणियोका ऐसा ख्याल है कि क्रोध करके विजय पाई जाती, शत्रुको खत्म किया जाता लेकिन यह वात नही है । सच्ची विजय क्षमासे ही मिलती है । जलानेका दृष्टात देखना हो तो अग्निसे ही चीज नही जलती । अतिशीतसे भी बड़े बड़े पेड़ जल जाया करते है । जाड़ेके दिनोमे जब ब्रर्फ पडता है तो असंख्य वनस्पतियाँ सूख जाती है । क्रोधसे लोकमे इज्जत जाती रहती है । जो क्रोध करके अपनी इज्जत बनाना चाहते है, परिणाम इससे ठीक विपरीत होता है । अर्थात् उनकी इज्जत बननेके वजाय घट जाती है । क्रोध करके शांति प्राप्त नही की जा सकती, दूसरोसे सहयोग प्राप्त नही हो सकता और न स्वयं दूसरोकी सेवा कर सकता, प्रिय वचन नही वोल सकता और न दूसरोसे वैसे मनोहारी वचन प्राप्त कर सकता । आदरका भी पात्र नही रहता और धनकी

कमाई, कुटुम्बका स्नेह या प्रेम आदि सब कुछ बिगड जाता है। इसकी बुराई गाई नही जा सकती। इस लोकमे भी शांति नहीं परलोकमे भी नही। भगवान तो सर्वथा क्रोध रहित हैं। क्रोधके कितने ही निमित्त मिलें लेकिन जवाब शांतिसे देना चाहिये। तो उसका असर अच्छा होता है। क्रोधमे अहित ही अहित है। एक मुनि नदीके किनारे एक शिला पर ध्यान लगाते थे। धोबी भी कभी-कभी उसी शिलापर वस्त्र धोया करता था। चर्या करके मुनि ध्यान लगाने वहा आये और उसी समय धोबी भी कपडे धोनेके लिये आया। दोनोमे हट पड गई। मुनि कहे इसपर तू कपडा नही धो सकता और धोबी कहे मैं यही पर धोऊंगा। अतमे दोनोमे हाथापाई होने लगी। धोबीका अधोवस्त्र खुल गया, तब वह भी नंगा हो गया। कुछ देर कुश्ती होत होते मुनि ऊपर देखते हैं कि मुनिकी रक्षाके लिये देव नहीं आते। तो ऊपरसे आवाज आती है कि देव तो रक्षा करनेको तैयार खडे है, लेकिन मुनि कौन है और धोबी कौन है समझ नही पडता। देवका मुनिके लिये यह व्यंग था कि जैसा धावी लडने पर उतारू हो गया इसी तरह तुम भी अपना क्षमापद छोड धोबी जैसे उद्दण्ड वृत्तिमे आ गये। और नगे हुए तो क्या हुए, धोबी भी कपडा खुलनेसे नगा हो गया है। साराश यह कि यदि क्षमा भाव मुनि रखते तो अवश्य ही उनका यह तिरस्कार न होता जो हो गया। क्षमाका बर्ताव होनसे शांतिसे बात समझानेपर वह मान भी जाता और इतना भी नही यह भी हो सकता था कि धोबी अपनी गलती कबूल कर नतमस्तक होकर जाता और अधिक निर्मलता आती तो दर्शन व्रत भी ग्रहण करता। लेकिन आप जहाँ आ गया वहाँ इन सब अच्छी बातोकी कया आशा की जा सकती है? वहाँ तो बुराइयाँ ही बुराइयाँ बनेंगी। क्रोधका जवाब क्रोधमे देनेमे शांति नही मिलती। अपना आत्म आप प्रगट न होने दो तो दूसरोको भी शांत रहने या शांत होनेका अवसर रहेगा। सहजसिद्ध भगवान स्वरूपसे निष्पाप ही हैं, और कषाय गुणिसमूह तो [illegible] स्वभाव प्रगट हुआ ही है।

विरूप, विरस सहजसिद्धकी उपासना—विरूप ! हे भगवन् ! आप रूपरहित हैं। काला, पीला आदि वर्ण पुद्गलके गुण हैं, वे चेतनमे नही हैं। संसारी अवस्थामे शरीर आदिका संयोग होनेसे कदाचित् वर्णादिमान् कहा जाता था लेकिन [illegible] पर सर्वथा वर्णरहित ही हैं, कोई व्यवहारसे उपचारसे भी वर्णादिमान नही कहला सकते। आत्मामे वर्णादि हैं ही नही लेकिन मोही मिथ्यादृष्टि शरीरको अपना मान कर शरीरके रगसे अपनेको समझता है मैं काला हू गोरा हू आदि। सो आत्मा तो [illegible] वर्णादिमान नही हो जाता, लेकिन कल्पनामे तो वर्णादि आ ही जाते हैं सो [illegible] वह कल्पना नही रहती। [illegible]

रहित अतीन्द्रिय गोचर ज्ञानशरीरी चैतन्यघन है। मैं भी अनादिसिद्ध ऐसा ही हू। यहाँ शंका रंच भी न करना। इस मैको देखो जिसे 'मै' कह रहा हू। विशक हे प्रभो ! आप शका रहित है। अपने स्वरूपमे धड़ाधक परिणमते जा रहे है। किन्तु संसारी अनन्त शङ्काओसे अस्त व्यस्त चित्त हमेशा अपने स्वरूपके परिणमनमे अटकते रहते है। कभी भी अपने स्वभावपरिणमनमे नही आते। यद्यपि स्वरूपको देखो तो नि.शंक ही है, निर्भय ही है। अनंतकालसे कोई द्रव्य उसको स्पर्श तक नही कर पाया, फिर उसके विगाड करनेकी बात तो अलग रही लेकिन यही अपनी भूलसे अपनेको परतंत्र और दूसरे पदार्थोसे भयभीत रहता है। परपदार्थमे इच्छाका विषयत्व माना है अत: ये सव शंकाएं और भय है। यह सहजसिद्ध भगवान भी विमोह है और कर्मक्षय तो है ही (पर्यायमे भी) सो हे सिद्ध समूह ! प्रसन्न होओ। जरामरणोज्झित वीतविहार विचिंतित निर्मल निरहंकार। अचित्य चरित्र विदर्प विमोह प्रसीद विशुद्धसुशुद्धसमूह ॥

जरामरणोज्झित सहजसिद्धकी उपासना--हे भगवन ! आप बुढापा और मरणसे रहित है। लोगोको इन दोनोमे आफत दीखती है। सो आप इन दोनोसे रहित है। और जन्मकी कहो तो आप इससे भी रहित है। बुढापेकी तकलीफ अनुभवमे तभी आती जव स्वयं बुढ़ापा भोगना पडता है। उस दशाका विचार करनेसे वैराग्यके परिणाम होते है ऐसा होता है वुढापा। जहाँ शरीर जीर्ण होने लगे वह है जरा। सो हे भगवन ! आप जरा से रहित है, क्योकि शरीर ही नही है, और शरीररहित है और मरणसे भी रहित है। बुढापेमे कमर लचक जाती है और झुक कर चलना पडता है, मानो अव खोई हुई जवानी को ढूंढ रहा हो अथवा जवानीमे घमंडसे जो अकड कर चलता था, सो बुढापा मानो सीख दे रहा है कि अकड़ना ठीक नही, आखिर वह झुकने के लिये वाध्य करता है। बूढा और तो क्या प्रिय कुटुम्बियोके लिये भी भारभूत हो जाता है, सन्मानहीन हो जाता। घरके लोगोको उसकी टहल आफत सी मालूम पडती। हितू लोग भी यह विचारने लगते कि इनकी जल्दी सुनले तो अच्छा (मृत्यु जल्दी आ जाय तो अच्छा)। इस अवस्थामे दु ख विशेष है, फिर भी समाधिमें लगा जाय तो दु ख नही। इस अवस्थामे भी जिसको अपने स्वरूप की दृष्टि नही आई उसे यह वडे दु.खका कारण है। धर्मात्माको किसी भी अवस्थामे दु ख नही। फिर भी आँशिक दु ख तो लगा ही है जव तक कि ससार है। पर हे सिद्धभगवान ! आप जरा और जराका कारण शरीररहित होनेसे उस दु खसे पूर्ण रहित है। मरणका दु ख भी भारी है। कहते है मरते समय आत्मा खिचती सी है सो खिचना तो क्या निकलने को तो एक समय मात्रमे ही निकल जाती है पर शरीरसे जो मोह लगा रखा था अव उससे संयोग छूटनेका समय आया, सो इसका ही महान दु ख होता है तथा शरीरसे आत्माके

मरण होनेके पहिले शरीरमे विशेष हलचल भी होती होगी, जिससे मरणका संकेत मिलता होगा और जिसके नामसे डरता था अब सिरपर आ खड़ी होनेसे गम्भीर वेदनाका अनुभव होता होगा। मरते हुए व्यक्तियोके कुछ दुःख भरी टीससे इसका दुःख समझा जा सकता है। मनुष्यभवकी सफलता अपने आपके सुधारमे है। हमे करना यह चाहिये कि जरा मरण रहित सिद्ध भगवानकी उपासना करें ताकि उसके दुःखसे छूट जाए। निश्चयतः जरा मरण रहित आत्माकी दृष्टि करनेसे वह निरापद अवस्था प्राप्त होती है।

वीतविहार, विचिन्त व निर्मल सहजसिद्ध भगवानकी उपासना—वीतविहार! जिनका परिभ्रमण मिट गया और अपने ही प्रदेशोमे ही विहार कर रहे, ऐसे हे भगवन् प्रसन्न होओ। स्वरूप अपने आपमे ही गमनका था लेकिन विकल्पोसे परिभ्रमण रूप बनाया। हमारा सामान्य स्वरूप भी भगवानके अनुरूप है। लेकिन भ्रमसे परको अपना रहा है और विचारोंमे भटकता रहता है। लोकके क्षेत्रमे भी इधरसे उधर और उधरसे इधर भटका ही करता है, पाच परिवर्तनके अनन्तकालको पूरा करता रहता है, लेकिन जब अपनकी सुध आती है तब वह परिभ्रमण मिटता है। विचिन्तित हे भगवन्! आप चितारहित हो। अथवा मनसे नही विचारमे आ सकते, आत्माके अनुभवमे ही आ सकते हो। यह सामान्य आत्मा भी ऐसा ही है। उपाधि भावको हटाकर जब स्वका लक्ष्य बनाए और उसमे लीन होवे तब अपना अनुभव होता। जैसे आत्माका यथार्थस्वरूप अवक्तव्य है और विकल्पोके लिये मात्र आत्मानुभवसे ही गम्य है मनसे भी गम्य नहीं, यह है सहजसिद्ध निज परमात्म की चर्चा। ठीक ऐसे ही कर्मक्षय सिद्धमहाराज भी विचिन्त हो गए है। हे सहजसिद्ध देव! प्रसन्न होओ [illegible] जिससे मैं सर्वथा विचिन्तित बनूं। निर्मल! हे भगवन् व सहज-सिद्ध आत्मदेव! तुम निर्मल हो, सिद्ध कर्मक्षयसे पर्यायमे भी निर्मल है और तू द्रव्यसे। यदि दृष्टि निर्मलकी बनावे तो तू निर्मल ही है क्योंकि जैसी दृष्टि [illegible] आता है, उसीका कर्ता बनता है और फल भी वैसा ही मिलता है [illegible]। आत्मा तो यह अभी मलीन है और अपने [illegible] यदि आत्मा मलीन तत्त्वको ही देखता जानता रहे तो निर्मलता [illegible] बात ऐसी है कि आत्मा सामान्यविशेषात्मक है, विशेष तो [illegible] पर्यायोंमे रहनेवाला जो वह एक है उस द्रव्यको देखो तो वहाँ [illegible] ऐसा आत्म निर्मल है उसके [illegible] पर्याय निर्मल होता है।

निराकार सहजसिद्ध प्रभुकी उपासना—निराकार प्रभो! [illegible] है। [illegible] बुद्धि [illegible] है। [illegible]

प्रत्येक जीवने अनादिसे अहंकारकी बुद्धि ली, रागादिकी दशाको अपना माना, किंतु यह न जाना कि यह रागादि अध्रुव चीज है मेरी नही है। मैं तो अध्रुव हू। जो सब ओरसे दृष्टि हटाकर अपनेको अपनेमे देखता है वह निरहकारी है। हे भगवन् ! आप और सिद्ध भगवान आप चित्य भी ऐसे ही हो। संसारी तो भूलसे व्यर्थ ही अहंकारी वन रहा है। अचरित्र ! जिसके चरित्रको व्यापारको परिणामनको कोई विचार नही सकता, हे भगवन आप ऐसे है और हे सहजसिद्ध भगवान आप भी ऐसे है। स्वयंके द्वारा अनुभवमें आ सकते हो, तुममें तुम छिपे हो, उससे जाननेके लिये इन्द्रियोकी वा मनकी सहायता मत लो, केवल अपनेसे ही उसे देखो, वह दिखेगा और अवश्य दिखेगा। उसके दिखनेमे आनन्दका समुद्र मिलेगा ऐसे चरित्र-वाले हो तुम। स्वयं अपने आपके अज्ञानसे खोटे मत वनो, अपनेको मत भूलो। अपने उच्च पदकी तरफ देखो और उसीमे तन्मय हो जाओ। विदर्प ! आप दर्परहित हैं, ममतारहित हैं। अहंकारसे पैदा होनेवाली ममता भी जीवको जलाती रहती है। अत. उसका अभाव भगवान मे देख अपनेको तद्रूप देखनेकी भावना भक्त बना रहा है। निश्चयत. हमारा आत्मदेव विदर्प है। झूठे ही यह घर मेरा, यह धन मेरा आदि करके अपनेको भटका रहा है। सो हे प्रसिद्ध सुसिद्ध समूह और सहजसिद्ध प्रसन्न होओ।

विवर्ण विगंध विमान निलोभ विमाय विकाय विशब्दविशोभ।
अनाकुल केवल सर्व विमोह प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह ॥

विवर्ण सहजसिद्धकी उपासना— हे प्रभो ! आप वर्णरहित है। वर्ण पुद्गल द्रव्यका अभिन्न गुण है, जिसकी पर्याये है काला, पीला, नीला आदि उनसे आप रहित है। जब कि आत्मामे वर्णादि है ही नही उसके कहनेकी आवश्यकता ही क्यो ? इसलिये कि शरीरमे जीव अनादिसे अपनापन बना रहा है। और शरीरमे काला पीला आदि वर्ण है तो उसका ज्ञान करानेके लिये कहा जा रहा है कि आप उस मिथ्या कल्पनाके आश्रयभूत वर्णादिसे रहित है और मैं भी स्वभावत वर्णादिसे रहित हू। शरीरमे वर्ण गन्धादि पुद्गलके कारण तो है ही, फिर भी वर्ण नाम कर्मके उदयसे वर्णादि माना गया है। कहते है कि शरीर पुद्-गल है तो वर्ण आदि अपने आप होगे ही। फिर उस प्रकारके रूप रस गंध और स्पर्श नाम कर्मके माननेकी क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर यह है कि प्रतिनियत जातिमें प्रतिनियत वर्ण आदि रहे ऐसी व्यवस्था नामकर्मके कारणसे है। जैसे—घोडेके शरीर जैसा रूप स्पर्शादि यदि मनुष्यमें भी पाया जाने लगा और मनुष्य जैसा वर्णादि घोड़े आदिके शरीरमे पाया जाने लगा तो वड़ी अव्यवस्था होगी। लेकिन ऐसा नही होता। यह सब वर्णादि नामकर्म की व्यवस्थाके कारण है। भगवान शरीरके संयोगसे रहित होनेके कारण सर्वथा विवर्ण है तथा मैं सहजसिद्ध शरीरका संयोग रहते हुए भी स्वरूपसे सर्वथा अमूर्तीक ही हू, रूप रस

ग्रहण ही नही, फिर शरीर कैसे बने ? संसारी पर्यायमे व्यवहारसे जो जीवको कायवान कह दिया जाता है। संसारी जीवोको कायकी अपेक्षासे गिनती करनेके लिये कहा जाता है कि संसारी प्राणी ६ तरहके है—१—पृथ्वीकाय, २—जलकाय, ३—अग्निकाय, ४—वायुकाय, ५—वनस्पतिकाय और ६—त्रसकाय। वस्तुत' जीवऔर काय हमेशासे पृथक् पृथक् वस्तुएँ है। यह चेतन है तो वह जड, यह अमूर्तीक है, तो वह मूर्तीक, यह निज है तो वह पर। फिर उसका संयोग हमारी रागद्वेष आदिकी परिणतिसे लगा हुआ है। अत. कायवान कहलाता, सिद्ध परमात्मा कषायरहित होनेके कारण कायसे सर्वथा रहित हो गये है। केवल प्रदेशी-पनाका कायवान है जो कि अनादिसे है और अनंत काल तक उसके स्वरूपमे रहेगा। मैं भी सहजसिद्ध भगवान कायरहित हूँ, ज्ञान शरीरी हू। यह पुद्गलका संयोग केवल संयोगीमात्र है। विशब्द ! हे प्रभो ! आप शब्दरहित है। शब्द वर्गणा होनेसे शब्द बनता। आप ज्ञानमय ही है, शब्दका काम क्या ? वह तो पुद्गलका मूर्तीक जडका गुण है, अमूर्तमे शब्द नही और चेतनामे तो कदापि नही। इसी लिये शब्दो द्वारा आत्माको नही कहा सकता नही समझा सकता क्योकि शब्द जड है उनमे वह ताकत नही कि आत्माका ज्ञान करा दे, यही कारण है कि भगवानकी दिव्यवाणी सुनकर भी अभव्यको प्रतिबोध नही हो पाता उसके चेतनकी अयोग्यताके कारण। शब्द मात्रसे जो कुछ भी कहा जाता है वह अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, आत्मानुभवमे जो आता है सत्यार्थ तो वही है। संसारी प्राणीके लिये यह बात है तो जो कर्ममुक्त आत्माएं शरीर और शब्दके सयोगसे रहित हो चुके है वे तो इससे अलिप्त है ही। विशोभ ! आप शोभारहित है। पुद्गलमे अपेक्षासे सौन्दर्य असौन्दर्य माना गया है वह मोहकी कल्पना है फिर भी वह शोभा और अशोभा पुद्गलमे दर्प पाई जाने वाली चीज है, चेतन तत्त्व उससे परिमुक्त है, वह तो अपने चैतन्यगुणसे अपने ही ढंगका अभिराम पदार्थ है। अथवा हे प्रभो ! आप सर्व क्षोभसे रहित हो।

अनाकुल केवल सहजसिद्ध प्रभुका अभिनन्दन—अनाकुल ! हे सिद्धसमूह ! आप अनाकुल हो। अज्ञानसे अनाकुलता होती है। परमे अपना मानना सबसे ज्यादा अज्ञान है। परसे सम्बन्ध बनाते इसलिये दु.ख है, यदि यह बात न हो तो दु ख है क्या ? सबका सत न्यारा न्यारा है जब सब पदार्थ अत्यन्ताभाव वाले है फिर उनको सम्बन्ध वाला मानना, सो दु खका मूल है। यदि कोई स्वतन्त्र सत्स्वरूपपर दृष्टि रखे रहे तो दु खी न हो। किन्तु अज्ञानीने संयोगोको देखा, दशाओको देखा, अध्रुव और क्षणिकको देखा। ध्रुव एकरूप सहजसिद्ध चैतन्य पुञ्जको नही देखा। प्राणी अन्य सबको देख आकुल है अपनेको देखे तो निराकुल है। मूढतामे दूसरेपर स्नेह और वैर विरोध आदिकी जबरदस्ती की। पर हम अपनेको नही देख अपने से सबसे बडा वैर कर रहे है, यह नही समझा। हे भगवन

आप तथा निराकुल हैं। निराकुलता आत्माका सहजसिद्ध गुण है। वह हममें भी सर्वदा मौजूद है। लेकिन पर्यायपर दृष्टि रखनेसे व्यर्थ ही आकुल बन रहे हैं। प्रभो! आपकी सार द्रव्यके अनुरूप है। फिर आकुलताका काम ही क्या? अभेद बुद्धि न हो तो आकुलता क्या? यह चीज मेरी थी, मेरी है और मेरी है आगामी रहेगी ऐसा जो विकल्प है वही दुःख का कारण है। जैसी वस्तु है वैसी मानने लगो तो कोई आकुलता नहीं। जहाँ कर्ता कर्म स्वामी सम्बन्ध माना वहाँ ही सब दुःख आये। मोक्षमार्ग पानेके लिये यह परबुद्धि दूर करनी चाहिये। सद्बुद्धि आनेपर यही ज्ञान तप संयम संवर और निर्जराका कारण होगा। और जब तक असद्बुद्धि रहेगी तब तक आस्रव और बंध चलता रहेगा। जब तक अभिप्राय ठीक नहीं हुआ तभी तक शुभोपयोगको उपादेयरूपसे मानता और वैसा ही करने उसकी आदत भी पड़ी हुई है। कर्ता कर्म और स्वस्वामी सम्बन्ध इन दोनोंके होनेसे यह होता। अमुकने अमुकका ऐसा कर दिया, अमुक अमुकका स्वामी है—यही अभिप्राय खोटा है। यहाँ भी कोई चीज आत्माके साथ नहीं है। साथ मान रहे हो तो परभवमें तो वह साथ न जायगी, कार्माण शरीर भी गिरता ही रहता है और मतिज्ञान आदि भी क्षणिक हैं। एक ध्रुवसे स्वभावका स्वस्वामी सम्बन्ध है परन्तु वहाँ विकल्प नहीं। अमुकने हमको सुख दिया, दुःख दिया, मैंने अमुकको सुखी किया दुःखी किया जिलाया मारा आदि विकल्प परसम्मुख संयोगजन्य मिथ्या विकल्प हैं। इस अभिप्रायमें पदार्थके स्वतन्त्र परिणमनका ख्याल नहीं है। सबका परिणमन अपना-अपना जुदा है, कोई किसीका कभी भी परिणमन कर ही नहीं सकता, फिर भी वैसा मानना अज्ञान है। व्यवहारसे कहनेमें जो बात आवे यदि अभिप्रायमें उसका ठीक जाना हो तो अज्ञान नहीं है। किन्तु शास्त्रमें ऐसा लिखा है या ऐसा सुना है इससे निश्चय जैसी बात कहना भी अज्ञान है। यदि अभिप्राय ठीक नहीं है तो निश्चय भी विकार है किन्तु इसका प्रयोजन निर्विकल्प होनेके लिए है। [illegible] विकल्प हटानेके प्रयोजन। बच्चेकी सगाई हुई कि उसके ऐसा विकल्प उठा [illegible]। और विवाह हुआ तब तो पूछना ही क्या? कई प्राणी कुटुम्ब बनाकर [illegible] समझते। लेकिन [illegible] आकुलताका [illegible] है। [illegible] पुण्योदयका काम है यदि उसे पापरूप न माना जाय [illegible]। और [illegible] दुःख समझता ही है। लेकिन [illegible] आकुलता [illegible] उसको धारण करना ही पड़ता है। अनाकुलताके लिए [illegible] जितना अकेला है वह उतना ही सुखी है। [illegible] निराकुल है और उतना सुखी है। [illegible] और [illegible], [illegible]। [illegible] हुए हैं

वाणी समझमे आती है। इसके सिवा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात उनकी वाणीकी है तो यह कि वह पूर्ण निर्दोष और जो कुछ भी कहा जा सकता है या अल्पज्ञ (छद्मस्थ) समझ सकता है वह सब उनकी गंभीर वाणीमे होता है। उन्हीकी वाणीकी परम्परासे आगे भी चिरकाल तक मोक्ष मार्गका प्रणयन उनके पथपर चलने वाले ज्ञानी ध्यानी पुरुप करते रहते है। हम जैसे अल्पज्ञोको जो ज्ञान ऐसे समयमे (तीर्थंकरके अभावमे) उपलब्ध हो रहा है वह उनकी ही वाणीका प्रसाद है, ऐसी भगवानकी वाणीका महत्त्व है। निमित्तकी दृष्टि से कहा जाय तो उनकी वाणीकी महिमा वचन अगोचर है। प्राणियोंको तत्त्वज्ञान जो होता है वह तो उन्हीकी योग्यतासे होता है परन्तु निमित्त—जिसकी समकक्षता अन्यसे नही—यह ध्वनि होती है, अरहंतके दर्शनसे व उनकी वाणी द्वारा अधिक लाभ होता है। दर्शनसे भी आत्मबोध होता है, पर उसमे भगवानकी वाणीका निमित्त (चाहे वह परोक्ष परम्परा या परभावका ही क्यों न हो) चाहिये ही चाहिये। उनकी वाणी पौद्गलिक होती हुई भी उसमे चेतनके ज्ञानकी ऐसी निमित्तता (आत्माके संयोगसे) समाई हुई है कि उसको श्रवण करनेके निमित्तसे आत्मामे सम्यग्बोधका सूर्य चमक जाता है। ऐसी वाणीकी महत्ताके अर्थं में भगवानके मुखको अनेक उपमाओ सहित वक्त्र शब्दसे कहा गया।

शीलगुणव्रतसंयमपात्र श्री शान्तिजिनकी उपासना—शील गुणव्रत संयमपात्रं—शील आत्माका ऐसा प्रधान आचार है कि जिससे संसारके दु.खोसे पार हुआ जा सकता। काम विषयकी भावना न होनेको शील कहते है, लेकिन इसका ठीक अर्थ लो तो अपनेमे स्थिर होनेको शील कहते है। शील स्वभावको कहते है, और जो विभावमे न भटक स्वभावमे एकाकार हो गया वह है शीलवान। इस तरह शील मोक्ष कार्य रूप है और स्वभावमे स्थिर होनेकी निमित्ततासे देखे तो वह मोक्षमे कारणरूप भी है। शीलको ही उसके अर्थकी स्पष्टतासे कहनेवाला ब्रह्मचर्य शब्द है, जिसका मतलब स्पष्ट है कि ब्रह्म अर्थात् आत्मामें चर्या अर्थात् आचरण करना। तो ब्रह्मचर्य आधारके भेदसे ४ प्रकारका कहलाता है। वास्तविक रूपमे भगवानके अनंतकाल तकके लिये ब्रह्ममे या स्वरूपमे लीनता हो गई सो सर्वोच्च और पूर्ण ब्रह्मचर्य वह है उससे नीचे दरजेका किन्तु हमारी अपेक्षासे उत्कृष्ट साधुओमें पाया जाने वाला ब्रह्मचर्य है जो स्वरूपमे ठहरने का सतत प्रयास करते रहते हैं और समय समय पर समाधिस्थ होते भी है। उससे नीचे दरजेका मध्यम ब्रह्मचर्य सप्तम प्रतिमाधारी आदि नैष्ठिक श्रावक होता है, जिसने स्वरूपकी सावधानी पूर्वक स्त्री मात्रका परित्याग कर दिया है। और सबसे जघन्य ब्रह्मचर्य सप्तम प्रतिमासे नीचे जघन्य नैष्ठिक श्रावक या पाक्षिक श्रावक जो परदाराका त्याग करते है उसे भी अणु ब्रह्मचर्य कहते है। आत्मस्वरूपकी ओर ध्यान जानेसे इतनी निर्वृत्ति इसमे हो जाती है कि वह अपनी स्त्रीके

सिवा संसारकी सभी स्त्रियोंमें मातृत्व वा पुत्रीत्वकी भावना रखता है, इन सबमें विषयका त्याग होनेसे अंशतः उसे भी ब्रह्मचर्य कह दिया। वस्तुतः स्वस्त्रीका सेवन भी कुशील है। परदाराका सेवन तो कुशील है ही। परदारासेवनमें विषय और कषायकी तीव्रता होनेसे कुशील शब्द रूढ हो गया, चाहे वह संसारकी अन्य स्त्रियोंको छोड़ एकमें ही क्यों न हो? और स्वस्त्रीसंतोषमें विषयकी मंदता होनेसे अणु ब्रह्मचर्य नाम दे दिया। सो यह भी जितने अंशोंमें परदारानिवृत्तिके भाव हैं उतने अंशोंमें और उस अपेक्षासे ब्रह्मचर्य है, न कि स्वस्त्रीको भोगना ब्रह्मचर्य है। यह तो व्यभिचार ही है। एक बार शारीरिक शील भंग करनेपर कितने ही करोड़ जीवोंकी हिंसा होती है। चाहे स्वस्त्रीके विषयमें हो और चाहे परस्त्रीके विषयमें, विषयसेवन करने वालेको यह पाप तो लगता ही है। आत्मस्वरूपको पाने के लिये शारीरिक शीलव्रत जितना अधिक पले पालना चाहिये, इसके अलौकिक गुण हैं। ध्यान अध्ययन जप तप सब इसीसे साधक होते हैं। आजकलके मनुष्योंकी आयुका विचार करते हुए यह आवश्यक है कि ४० वर्षके बाद मनुष्य वा ३५ वर्षके बाद स्त्री पूर्ण ब्रह्मचर्य पाले। यदि इसके बाद भी संतान होनेका सिलसिला जारी रहा तो वृद्धावस्थामें भी कल्याण करनेका ठिकाना नहीं रहेगा। संतानको पालते पोषते ही जीवनका दुःखद अंत हो जावेगा। मनुष्यभव निरर्थक चला जावेगा। और संतान भी न हुआ तो भी उस अवस्थाके बाद पापके गड्ढेमें पड़े रहकर अपनी मानसिक शक्ति और शारीरिक शक्तिको [illegible] रहना महान अज्ञानता है। फिर ज्ञान और ध्यान बढ़ानेकी शक्ति कैसे आ सकती है या बढ़ाई जा सकती है? और तो क्या णमोकार मंत्रका ठीक उच्चारण करना भी कठिन पड़ेगा। श्री शांतिनाथ भगवान नीचे दरजेका शील पालने वाले नहीं, किन्तु शील और ब्रह्मचर्यका जो वास्तविक और पूर्णरूप है उसके धारी हैं। निरंतर चिदानंद चैतन्यस्वरूपमें लीन रहते हैं। भगवान अनंत चतुष्टय का और अनंतगुणोंके धनी हैं। अब अरहंत अवस्था न सब विभावभावोंके त्यागसे (विरतिसे) उच्च व्रत नाम पाया है। क्योंकि व्रतका अर्थ है— विरमण व्रत। अर्थात् त्याग करनेको व्रत कहते हैं। इसी तरह चार व्यावहारिक संयम नहीं किन्तु पारमार्थिक संयमको प्राप्त हैं। यम [illegible] कहते हैं। आत्माका बाह्यवृत्तिका संकोचकर आत्माकी तरफ लगाना यम है और सं अर्थात् सम्यक् प्रकारसे परिपूर्णरूपसे आत्माको आत्मामें लगा देना बाह्यवृत्तिका सर्वथा त्याग हो जाना यह है संयमका पारमार्थिक या उत्कृष्टरूप। आप ऐसे उत्कृष्ट संयमको धारण करने वाले हैं।

अष्टशतार्चित लक्षणगात्र अम्बुजनेत्र जिनोत्तमकी वन्दना—अष्टोत्तरशत [illegible] गात्र। आपका शरीर १००८ लक्षणोंसे चिह्नित है। [illegible] में अन्य साधारण किन्तु उत्तमताकी मान्यताके कुछ विशेष [illegible] या १०८ हैं और

वे भी साधारण रूपमे शुभ—शंख, चक्र, गदा और दव आदि चिन्ह होते है लेकिन भगवानके १००८ और वे भी स्पष्टतम और उत्तम चिन्ह होते है, जिससे उनके शरीरकी सर्वोत्कृष्टता प्रगट होती है। तीर्थङ्करोके सिवा ऐसे १००८ शुभ चिन्ह और किसी भी महापुरुपोके नही होते। तीर्थङ्कर प्रकृतिकी सहभावी पुण्यकर्मकी विशेषतासे ही ये होते है। पुण्यवान जीवोके शरीरकी बनावट भी उस तरहकी उत्तम होती है। अब भी हम लोग ऐसा आभास पाते हैं, किसी भले मनुष्य और भील आदिके शरीरमे इस अंतरको समझा जा सकता है। शरीरके अच्छे होनेसे आत्मा अच्छी होती है यह बात नही है। पर आत्मामे विशेपता होने से शरीर भी विशिष्ट होता है, प्राय यह बात अवश्य है। शरीरको देखकर आत्माकी बहुत सी बातोका पता पड जाता, क्योकि उसका निमित्तनैमित्तिक संबंध ऐसा ही होता है। जिस आत्माने पाप कर्म संचित किया है उसके हुंडकस्थान नीचगोत्र, दुर्भग, दु स्वर अनादेय अस्थिर और अयश.कीर्ति आदि अशुभ प्रकृतियोका उदय होता है। और पुण्यात्माओके समचतुरस्र संस्थान वा तीर्थंकर आदि पुण्य प्रकृतियोका उदय होता है। 'नौमिजिनोत्तमम्बुजनेत्र' आप जिनोमे उत्तम है। साधारण लोगोकी दृष्टिकी अपेक्षा अन्य सामान्य केवलियो की अपेक्षा आपमे अतिशय अधिक होनेसे आप उनमे भी उत्तम है। अथवा जिन संज्ञा सम्यग्दृष्टि होनेसे शुरू हो जाती है अविरतसम्यक्त्व गुणस्थानमे मिथ्यात्व आदि बहुतसी कर्मप्रकृतियोपर विजय पाली जाती है। अत वे जिन है इससे ऊपर और गुणस्थानवर्ती भी जिन कहलाये। तो इन सब जिनोमे आप उत्तम है।

अम्बुजनेत्र इन्द्रनरेन्द्रगणपूज्य जिनोत्तम श्री शान्तिजिनकी उपासना—'अम्बुजनेत्रं' आप कमलके समान सुन्दर और कमलाकार विशाल नेत्रवाले है। अथवा कमलका विकास जैसे दर्शकोके लिये सुखकारी होता है, उसी तरह आपका ज्ञाननेत्र विकसित होनेपर आपका दर्शन (उस शुद्ध ज्ञान सहित) करनेसे दर्शकोको (आत्मदर्शियोको) अलौकिक आनन्द होता है, इसलिये भी कमलके साथ आपके ज्ञाननेत्रकी तुलना करते है। चैतन्यघन ज्ञानको जड़ कमलकी तुलना तो क्या हो, लेकिन जो भी अच्छी उपमा यहाँ मिल सकती है वही देते है। अरहंत अवस्थामे भगवानकी दृष्टि अलौकिक सौम्यताको लिये होती है मूर्तिमे जिसकी कलात्मकता उतारनेको हम भरसक कोशिश करते है लेकिन इस कृत्रिम व चैतन्यशून्य मूर्ति मे और फिर हम जैसे नाममात्रके कलाकार वह दृष्टि वह सौम्यता वीतरागताका चित्रण कहाँ ला सकते हैं? तो आपके नेत्र प्रफुल्लित कमलके समान है। आत्मामे वह परमात्मीय शक्ति प्रगट होनेसे नेत्रोमे भी अपूर्व चमत्कार और सौन्दर्य आ गया है। मनरूपी राजाके भावको कहने वाला या बताने वाला नेत्ररूपी मंत्री होता है। सो भगवान आपके अनत चतुष्टयकी झलककी असर आपके दिव्य नेत्रोमे है। 'पचमभीप्सितचक्रधराणा' हे शाति-

नेन्द्र आप चक्रवर्तियोमे पाचवे चक्रवर्ती हैं। व्यवहारमे आप छह खड भरत क्षेत्रके स्वामी होकर भी अतरगमे अरणुमात्रके भी स्वामी नही हैं। जो स्वामी बनना चाहते हैं वे लोगोमे आदरके पात्र नही होते। और जो परके स्वामीपनसे दूर रहते व आदरणीय होते। आपने परपदार्थोंसे स्वामित्व भावको बिल्कुल दूर कर दिया। अन पूरे भरतक्षेत्रके छह खडोका आदर्श व्यावहारिक स्वामित्व प्राप्त हुआ। व्यवहारसे विचारें तो कर्मके उदयका यह नाटक मालूम पडता है कि जो तीन लोकका राजा बनने वाला है उसे ६ खड भरतका राजा बनना पडा। लेकिन शातिनाथ तीर्थंकरने गृहस्थ अवस्थामे भी इस चक्रवर्तित्वको अपनी शोभा नही माना, उपाधि ही मानी। इसमे सुख नही माना परन्तु क्लेशका कारण ही समझा। 'पूजितमिन्द्रनरेन्द्रगणैश्च' आप इद्र नरेन्द्र और गणधरोसे पूजित हैं। जो वैभव सम्पन्न होता वह इन्द्र कहलाता, और जो मनुष्योमे वैभवशाली होता वह नरेन्द्र, अपने आपको जो सन्मार्गमे ले जावे उसे नर कहते हैं। नर शब्दसे ही नारायण शब्द बना है। नरोका जो उत्तम आचरण हो उसे अयन कहते हैं जो सन्मार्गके भावमे प्रतिष्ठित हो गये वे नारायण कहलाये। इसीलिये उत्तम प्रकृति या आचरणके मनुष्यको लोग नारायण कहा करते हैं। सो आप ऐसे सन्मार्गी नरेन्द्रो द्वारा व इन्द्र तथा गणधरो द्वारा पूजित हैं।

शातिकर श्री शातिजिनका अभिनन्दन--शातिकर गणशातिमभीप्सु ऋषि, यति, मुनि, अर्जिका और अनगार--इन ४ प्रकारके साधुगणोकी या मुनि श्रावक श्राविका इन गणोकी व समस्त प्राणी समूहकी शातिको चाहने वाला भक्त शातिको करनेवाले 'षोडश तीर्थंकर प्रणमामि' सोलहवें शातिनाथ तीर्थंकरको नमस्कार करता है। शाति आत्माका स्वभाव है, सुख शातिमे ही मिलता है। अशाति सबको अप्रिय है, पर अशातिका उपाय भी इच्छा की जाती है। ससारके वैभवको चाहना, ससारके वैभवका गौरवकी दृष्टि रखना, ससारिक वैभवशालियोका विशेष सम्मान करना, वर्तमानमे व भविष्यके लिये सासारिक इच्छाओकी पूर्तिको चाहना आदि विकल्प तथा शरीरमे कर्तृत्वकी बुद्धि करना ये सब अशाति का चाहनेके रूप हैं। लेकिन जिसने अशातिको दुखरूप अनुभव कर लिया और यह अनुभव बुद्धिमे मिलती है, ऐसा मान लिया वह स्वरूपकी दृष्टि रखनेवाला भक्त भगवानमे अपनी भावना व्यक्त कर रहा है कि मैं आकुलताके रूपमे अनादिकालसे पडा था, अब निराकुलताका इच्छुक हू जो कि मोक्षरूप है, अर्थात् अपना नाता मैंने ससारसे नाट माशने जोड लिया है। जिस तरह मैं अपनमे निराकुलता चाहता हू उसी तरह धर्मात्मामे सदा सारे ससारके प्राणियोमें निराकुलताका साम्राज्य हो, ससारकी परिस्थितिसे दूर भागकी स्थिति पर इसलिये क्योकि निराकुलताका रास्ता नही है, इस तरह अपनी श्रद्धाका मजबूत करता हुआ आदर्शका निर्मल बनाता हुआ कि सब शाति हो, सब भगवानको नमस्कार करता है। यदपि शाति

अपनी परिणतिसे ही आयगी परन्तु निमित्तकी अपेक्षासे भगवान शांतस्वरूप जो है उनको नमस्कार करके अपनेमे बल लाता है । क्योंकि शांत स्वरूप दोनोके है । पर्यायमे इसके नही है । तो भी इसका इच्छुक है । पूजक अपने लिये व जगतके जीवोको शुद्ध चैतन्यका विकास ही चाहता है, सुखशांति चाहता है । वह ऐहिक इच्छा नही रखता । फिर भी पूजा करने वालेको संसारका वैभव अब नही तो तब मिलता अवश्य है । वह यह भी नहीं चाहता कि भगवान हमे मोक्ष दे । क्योकि सच्चे पूजककी श्रद्धा सच्ची होती है । वह इतना खूब अच्छी तरह जानता है कि अन्य पदार्थ अन्य पदार्थका कर्ता नही हो सकता । भगवान हमको कुछ देंगे ऐसी श्रद्धा भक्तके नही है । फिर भी गुणानुरागमे और स्वरूप मिलानकी उमंगमें अपनापन प्रगट करता है । भगवानका आदर जो हृदयमे बैठ गया है, वह ऐसा भी कहलवाता है । अनादिसे तो संसारके तत्त्वोमे आदर बुद्धि कर रखी थी । अब आत्मवैभवका पता पडा है तब दृष्टि वहाँसे हटकर यहाँ गड गई है ।

पूजाके प्रयोजकत्वकी समस्याका समाधान—कई लोग कहते कि आज भगवानकी पूजा नही हुई, भगवान पुवासे रह गये सो यह बात नही है, भगवान पुवासे नही रहते और न किसीके पूजनेसे ही उनमे पूज्यपना आता । वे तो अपने रूपसे जैसे है सो है । उनका प्रभुत्व सदाके लिये अमर है । पर पुवासा तो वह रहता जो पूजा भक्ति व दर्शन नही करता । सच बात यह है कि जब तक विकाररहित चैतन्यका ध्यान नही आता तब तक सारी परिपाटी अस्तव्यस्त चलती है । इच्छाएं नाना तरहकी बनती है । जिनको हटानेसे अभीष्ट प्राप्त होता है उन्हीको बढाता है, क्योकि अभीष्टकी पहिचान हुई नही, चाहना क्या चाहिये यह जाना नही और चाहकी पूर्ति कहाँसे होगी, यह भी जाना नही और मेरा स्वरूप चाहसे रहित चिदानन्दमय है यह जाना नही । जिनको ऐसा ज्ञान हुआ है वे ही भगवानके सच्चे पूजक है । शांतिके मार्गपर वे ही चल सकेगे ।

दिव्यतरु. सुरपुष्पसुवृष्टिर्दुन्दुभिरासनयोजनघोषौ ।
आतपवारणचामरयुग्मेयस्य विभाति च मण्डलतेजः ।।

अष्टप्रातिहार्यराजित श्री शान्तिजिनका स्तवन—दूसरोके चित्तको हरनेवाली अलौकिक विभूति जिसके होती है उसे प्रतीहार कहते है, ऐसा प्रतीहार (सेवक) इन्द्र होता है उसका जो काम होता है उसे प्रातिहार्य कहते है । जैसे इष्टछत्तीसीमे रहा है—तरु अशोकके अशोकके निकटमें सिंहासन छविदार । तीन छत्र सिरपर लसै भामण्डल पिछवार ।। दिव्यध्वनि मुखतै सिरै पुष्पवृष्टि सुर होय । ढोरें चौसठ चमर जख बाजे दुन्दुभिजोय ।। ये आठ प्रतिहार्य किसके है ? उत्तर— ये प्रातिहार्य इन्द्रके है, भगवानके नहौ । पर भगवानके कहे जाते है इस लिये कि भगवानके निमित्तसे भगवानके लिये ही इन्द्र करता है । दिव्यध्वनिको

प्रभावित करनेमे भी इन्द्रका हाथ है इसलिये वह भी उन सातोंमे शामिल है। दिव्यध्वनिके प्रकाश वगैरहकी समोसरणकी सारी व्यवस्था इन्द्र करता है। अत यह भी उसका कार्य कहला सकता है।

श्री जिनका प्रथम प्रातिहार्य दिव्यतरु—दिव्यतरु-अशोक वृक्ष भगवानको केवलज्ञान होने पर इन्द्र कुबेरकी मददसे जो अशोकवृक्ष बनाता है, वह दर्शकोंके शोकको हरने वाला होता है। समवशरणमे आते ही शोक तो भगवानके प्रतापसे और निश्चयसे अपनी भावनाओंकी निर्मलतासे रहता ही नहीं। फिर भी उसमे अशोकवृक्ष अलंकार देता है। उसकी अनूठी रचना और सुन्दरता मनोमोहक होती है। पृथ्वीकायिक रत्नादिसे निर्मित उन्नत विशाल वृक्ष श्रीमण्डपके ऊपर जो कि स्फटिक मणिका होता है नीचे बैठे हुए भव्यों की जो कि भगवानकी दिव्यध्वनि सुनते है जब दृष्टि वृक्षपर जाती तो समवशरणकी जैसी अतिशय वाली चीजोंके निमित्तसे विशेष आल्हादित होकर सुकोमल और निर्मल भावोंका उत्पन्न होता। अथवा जिस वृक्षके नीचे भगवान बैठे हुए भव्य भगवानके निमित्तसे शोक रहित हो जाते हैं उस वृक्षको ही अशोकवृक्ष कहा जाने लगा। वास्तवमे तो असली निमित्त शोक हरनेमे भगवानका ही है। कवि कल्पना करते हैं कि जिस अशोकवृक्षकी छायामें समस्त अन्य वृक्ष नीराग (कांति सौन्दर्य रहित) हो जाते हैं वहाँ सभामे बैठे हुए सभी प्राणी क्या न नीराग रागरहित वीतराग हो जायेंगे? अर्थात् होंगे ही। भगवानके धर्मोपदेशसे जब वृक्ष भी शोकरहित हो गया तो मनुष्योंका तो कहना ही क्या? यह तो अलंकारिक भाषा की बात है, लेकिन यह तो बात यथार्थ ही है कि भगवानको केवलज्ञान ही यह वृक्ष जिस वृक्षके नीचे उन्हें बोध प्राप्त होता है अशोकवृक्ष कहलाने लगता है और यह भी बात ठीक है कि भगवानके समवशरणमें जो भी प्राणी जाते हैं उनके राग, द्वेष, शोक, भय, उन्माद, चिन्ता, भूख, प्यास बैर और विरोध आदि दोष उनके समक्ष विलीन हो जाते है। जहाँ मोह गया या मन्द पड़ा वहाँ शोक कहाँ? प्राणी तो मोहके कारण कल्पना मात्रसे दुखी हो रहे हैं। दुख केवल कल्पना का है। [illegible] विषाद का अन्य कष्टोंपर दुखी होता है परन्तु [illegible] कारण है। कल्पनाके सिवा दुःख है क्या चीज? [illegible] जाने तो दुःख नहीं रह। [illegible] और [illegible] होकर [illegible]। [illegible] समीपमें जा पहुँचता है वह भी [illegible] रहित हो जाता है। [illegible] का बोध जाग्रत हो जाते हैं [illegible] हो जाते हैं।

श्री जिनका द्वितीय प्रातिहार्य सुपुष्पवृष्टि—दूसरा प्रातिहार्य है। पुष्पवर्षा-देवता लोग आकाशमे चलते हुये जिनेन्द्रके स्थानपर पुष्पवर्षा करते है। फलोका डण्ठल भाग ऊपर रहता है और पाँखुड़ी नीचे। परन्तु भगवानके समीप गिरते है तो वहाँ डण्ठल नीचे हो जाता है ऐसे वे पुष्प हमे शिक्षा दे रहे है डठल अर्थात् बंधन नीचे या शिथिल हो जावेगे, जो कि भगवानके निकट आवेगा। इसको यदि हम अपनेपर घटावे तो भगवान तो हम स्वयं चैतन्य प्रभु है उसके पास पुष्प या कहो काम आ रहे है क्योकि कामका बाण पुष्प बतलाया है। तो पुष्प काम विकार या उपलक्षणसे रागद्वेष आदि कहलाये। ये विकार यहाँ चैतन्य प्रभुकी सेवामे दौड दौडकर आते है (बरसते है) ज्ञानके साथ आते है, लेकिन विरूप निम्न बधनी बन जाते है जैसे फूल। इसी तरह चैतन्यपर हमला तो जरूर करते पर पददलित हो जाते है क्योकि चैतन्यकी भूमिकामे स्वलक्षणमे उनका प्रवेश नही है। ऐसा चैतन्यदेव अपने ही निकट बना रहे (परपदार्थोको न भटके) तो कर्मोको दूर कर सकता है। और शांतिनाथ जिनेन्द्रके पास जो जाता है उसकी रुचि धर्ममे प्राय. होती ही है।

दुंदुभि व सिंहासन नामक तृतीय चतुर्थ प्रातिहार्य—तीसरा प्रातिहार्य दुंदुभि बाजोका बजना है। देवता लोग दुंदुभि बाजे बजाते है जो कि अतिमधुर कर्णप्रिय होते है। वे बाजे सैकडो तरहके बजते है फिर भी बेस्वर नही होता। दुंदुभिके शब्द मानो यह कह रहे है कि भगवानकी सेवाका यह अपूर्व अवसर है। ये जिनेन्द्र मोक्ष मार्गके नेता हैं, मोक्षमे ले जानेके लिये सारथीके समान है, इन प्रभुकी सेवामे आवो। इन दुंदुभिके शब्दोसे जैसे धर्मोत्साह बढता उसी तरह चैतन्य प्रभुकी उपासनाके अर्थ अन्तर जल्प ओम शब्दका आदिके द्वारा स्वरूपकी उत्कण्ठा होती है। जब चित्तमे प्रसन्नता होती है तो गानेका स्वर निकलता है। उसी तरह स्वरूप प्राप्तिकी प्रसन्नतामे जो गुनगुनाहट निकलती है वह चैतन्य प्रभुका स्मरण है। चौथा प्रातिहार्य—सिहासन है, जिसकी रचना अनुपम होती है। उसके ऊपर ४ अंगुल ऊंचे अधर अन्तरीक्ष भगवान विराजते है। इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर अत्यन्त भक्तिभावसे यह सब सुन्दर रचना करते है। जैसे पचकल्याण आदिके उत्सवोपर भक्तिके वश जहाँ तक बनती है सुन्दर रचना करते है।

दिव्यध्वनिनामक पञ्चम प्रातिहार्य—पाचवा प्रातिहार्य भगवानकी दिव्यध्वनिका होना है। यह इंद्रकी प्रातिहार्य नही है, फिर भी इद्रकी आज्ञासे मागध जातिके देवो द्वारा उस ध्वनिका प्रसार दूर दूर तक किया जाता है इसलिए दिव्यध्वनि भी कदाचित इंद्रका प्रातिहार्य है। दिव्यध्वनिके बारेमे दो मत है। कईका कहना यह भी है कि भगवानकी वाणि मुखसे ही खिरती है और सर्वांगसे खिरनेकी प्रसिद्धि तो है ही। यह आत्मा स्वयं अजर अमर है चिदानन्द प्रभु है, फिर भी अपनेको दीन मानता है। जब भगवानकी वाणी कानो

में पहुँचती है तो अनुभव होता है कि मैं ज्ञानपुंज हूं। जगतके जीवोंको अपने स्वरूपका सत् का भान नहीं है। यह हो पाना बड़ा भारी काम है। अपने आपकी व्यवस्था करना सबसे बड़ा काम है। यह बड़ा काम भगवानकी वाणीके निमित्तसे [illegible] हो जाता है। भगवानकी वाणी कहलाती है लेकिन वाणी तो पुद्गलात्मक है, जड़ है और भगवानका चैतन्य पुंज उनकी वाणी कहनेसे एक तरह भगवानका अपमान है। लेकिन दूसरी तरहसे इसमें भगवानका गौरव ही है कि जिस वाणीमें ऐसा जादू है कि अगणित जीवोंके मोहका पर्दा हट जाता है, अपने प्रभुत्वको पहिचानकर भगवान सम बन जाते हैं। शुद्ध चेतनामय भगवानके स्वरूप, निकली हुई ध्वनिका यह माहात्म्य वर्णनातीत है। मोक्षमार्गका प्रगमन हमेशासे भगवानकी इसी वाणीसे होता आता है और अनन्तकाल तक होता रहेगा। यदि यह निमित्त न होता तो मोक्षका मार्ग बन्द ही रहता। लेकिन यह न हुआ और मोक्ष मार्ग खुला रहा। अनन्तानन्त जीव जो सिद्धि लाभ करते हैं उसमें बाह्य निमित्त साक्षात् या परम्परा भगवान की दिव्य ध्वनि ही है। दिव्यध्वनिका ऐसा महत्त्व है।

श्रीजिनका षष्ठ प्रातिहार्य अनुपम छत्र—छटवां प्रातिहार्य है तीन छत्रोंका भगवानके सिरपर शोभित होना। भगवान तीन लोकके राजा हैं मानो ये वैभव इसी लिये अपना रूप छत्रका बनाकर भगवानकी शोभा बढ़ा रहे हैं सेवाके लिये प्रस्तुत हुए हैं। कल्पनामें कवि कहता है कि छत्रने सौ दफे चन्द्रमाको जीत लिया है। तभी तो भगवानकी निकटता का पा सके अन्यथा चन्द्रदेव तो दूर ही रहता है। अथवा भगवानके शरीरकी कांतिने चन्द्रमाकी कान्तिको जीत लिया। अतः यह त्रिविधरूपसे बलि बलि होकर भगवानकी सेवामें आया हुआ है। राजा, महाराजा या दुल्हाके छत्र लगाते हैं। यह क्या है? क्यों? लोग इसलिये करने लगे हैं कि उस चीजको दूसरोंके पास रहनेसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है। भगवानके सिरपर उनकी महत्ताका द्योतक छत्र रहा तो बड़प्पन बताने लिये सब साधारण प्राणी भी उसे लगाने लगे। लेकिन इससे भगवानका महत्त्व घटता नहीं किन्तु उसमें उनके अनिवार्य प्रामाणिकताका एक सबूत मिलता है। [illegible]

पर परख सकते है। फिर उस दिव्य आत्माके संसर्गसे उस शरीरमे वा आसपासका वस्तुओं मे कुछ चमत्कार झलके, अलौकिक सौन्दर्य और कला प्रकट हो तो इसमे आश्चर्य ही क्या ? कई आश्चर्यकी सी बाते तो हमको साधारणसे प्रसंगो वा पदार्थोमे देखनेको मिलती रहती है। फिर भगवानके विषयमे शङ्का ही क्यो ?

श्री जिनका सप्तम प्रातिहार्य चंवर ढुलन——सातवॉ प्रातिहार्य है भगवानके दोनो पार्श्व भागोमे ६४ चमरोका ढुलना। चमर ढुलनेके समय नीचेसे ऊपरको जाते है, इससे वे यह वताते है कि भगवानके चरणोमे जो आवेगा झुकेगा वह उन्नत होगा ऊपर उठेगा गौरव प्राप्त करेगा। इसमे क्या संदेह है कि जो भगवानकी सेवामे आते है वे कृतार्थ हो जाते है। जिस स्थानपर भगवानने निर्वाण पाया है वह स्थान भी पूज्य हो जाता है और कई तो ऐसा भी कहने लगे कि तीर्थराजकी भूमिपर जो असंख्य घास फूस उगती है वह भी तिर जाती है। इस बातमे कितनी सच्चाई है यह बात दूसरी है। किन्तु ऐसा कहनेसे भगवानके संपर्कका महत्त्व प्रगट होता है, इतनी बात तो अवश्य है।

श्रीजिनका अष्टमप्रातिहार्य भामण्डल—भामण्डल–आठवा प्रातिहार्य है। भगवानके दिव्य शरीरसे एक आभा निकलती है जिससे पीछे की तरफ बलयाकार एक कान्ति मण्डल बन जाता है। देवता लोग उसीके अनुरूप एक और प्रभा मंडल रचते है। वह भी पीठ पीछे होता है। उसकी कांति ऐसी अद्भुत होती है कि सूर्य चन्द्रमाओका प्रकाश और सौदर्य भी मात खाता है और सबसे बड़ी विशेषता उसकी यह है कि उसमे भव्य प्राणियोको अपने अपने भव पहलेके तीन आगेके तीन और एक वर्तमान मौजूदाका ऐसे ७ भव दिखते है। पूजक शाति तथा तीर्थंकरका नाम लेकर ये ८ प्रातिहार्य अरहन्त अवस्थाके बखान रहा है। ऐसे ही प्रातिहार्य प्रत्येक तीर्थंकरोके हुआ ही करते है। जो भी तीर्थकर होते है उनके ये प्रातिहार्य होते है। इसकी शोभाका वर्णन करना कठिन है। इंद्र अपनी अतुल ऋद्धिके द्वारा इस रूप सेवा करके अपनेको सफल बनाता है।

त जगदर्चितशातिजिनेन्द्र शातिकर शिरसा प्रणमामि।
सर्वगणाय तु यच्छतु शाति मह्यमर पठते परमा च ॥

श्री शान्तिजिनकी उपासनायें सर्वगणके लिये शान्तिलाभकी अभ्यर्थना—भगवान सबको शांति दे और मुझे भी। वे शातिनाथ जिनेन्द्र संसारके महापुरुषो द्वारा भी पूज्य है और जिनके निमित्तसे असंख्य प्राणियोको शाति लाभ होता है ऐसे शातिनाथ भगवानको अथवा शातिस्वरूप अरहंत समूहको मै शिरसे प्रणाम करता हू। मै उनका पाठ उत्कृष्टता पूर्वक श्रद्धा और विनयपूर्वक मन वचन और काय इन तीनो योगोको लगाकर कृतकारित और अनुमोदनासे करता हू। पूजकका हृदय भगवानकी स्तुति और पूजामे इतना झुक जाता

है कि वह नम्रताका प्रतीक बन जाता है। वह भी लौकिक कार्योंकी श्रद्धासे नहीं किन्तु शुद्ध चैतन्यकी श्रद्धासे प्रेरित होकर होती है। अपने चैतन्यकी खबर होनेसे उसमें अकल नहीं आती कि स्वरूपसे हम भी तो भगवान हैं क्यों किसीको पूजें ? प्रत्युत होता यह है कि अपने स्वरूपकी महानताकी खबर पड़नेसे जिन्होंने वह रूप प्रगट कर लिया है उनके प्रति उसके भाव अत्यन्त समादरके हो जाते हैं, उनको वह अपने हृदय-कमलमें विराजमान रखनेकी भरसक चेष्टामें रहता है। जबकि उसके विकल्प आते हैं उनके दर्शनोंके लिये (शुद्ध चैतन्यके अनुभवके लिये) लालायित रहता है, उनके दर्शनको सबसे बड़ा लाभ मानता है। वह निजको निज और परको पर समझता हुआ भी अरहंत सिद्धोंके प्रति भक्तिका भाव खिंचा रहता है, उनके स्मरण कीर्तनमें परम आनन्दका अनुभव होता है, उनके स्वरूपका आस्वादन करके भूखा रहता हुआ भी अमृत पान किये हुएके समान तृप्त और सन्तुष्ट रहता है। ऐसा प्रभुके प्रति खिंचाव जब हो जाता है तो कभी कभी पूज्य और पूजकका भेद मिट जाता है, इनकी एकाग्रता प्रगट हो जाती है अर्थात् वे विकल्प मिट कर निर्विकल्प भगवानमें लीन हो जाता है। फिर यदि जब समाधि विभाव टूटता है तो उस अनुभवके स्मरणसे वह गद्गद हो उठता है। पूजककी यह वृत्ति उस पूज्य पदमें आसीन परमेष्ठी समय होती है। जितने भी परमेष्ठी या पूज्यपदमें जो प्राप्त हुए हैं वर्तमानमें हैं और थे। [illegible] पूज्य आत्माओंमें अनन्य भक्तिपूर्वक ध्यान करके पूजक भी पूज्य हुए हैं। प्रत्येक [illegible] रास्ता खुला हुआ है वह अपनी स्वतन्त्रताका सदुपयोग पूज्य आत्माओंमें अनन्य श्रद्धा और भक्ति करके कर सकता है, ऐसा करके साधारण साधक तो वह स्वयं पूज्य बन जाता है और आगेकी सुदृढ़ भावना और साधनासे आत्माका जो परम विकास होगा उसमें उसकी पूज्यताकी तुलना भगवान्से ही की जा सकती या कहिये वह स्वयं भगवान् होगा। यहाँ पर पूज्यताका लाभ या फलकी तरफ दृष्टि नहीं खींची जा रही है किन्तु यह स्पष्ट किया जा रहा है कि हमारी दीनवृत्तियाँ इतनी [illegible] श्रद्धा करके, [illegible] महान हो सकती है। यहीं ऐसा कर देंगे सो बात तो नहीं है, करना तो सब आत्मा ही है किन्तु यह निमित्त ही ऐसा आप है कि [illegible] आत्माओंका (उपादान [illegible]) निमित्त [illegible], असमर्थ उपादानके लिए कदापि नहीं।

रहे वे तीर्थङ्कर महान श्रेष्ठ कुलमे प्रवर संसारको प्रकाश देनेके लिये उत्पन्न हुये थे। उन्होने अरहंत अवस्थामे तो मोक्षमार्गका प्रणयन कर संसारको आलोकित किया हो, लेकिन संन्यास लेनेके पहिले भी उनकी अनुपम बाल अवस्था और यौवन अवस्था भी संपर्कमे आये हुये भाग्यशालियोके लिये कम आल्हादकारी नही थी। अभी भी कोई विशेष पुण्यात्मा जो कि साथमे सब कलाओसे परिपूर्णके सौदर्य और ज्ञानसे सम्पन्न हो और हो निर्मल विचारका परोपकारी तो ऐसे होनहार बच्चेको देख कौनकी आँखे तृप्त नही हो जाती है? अर्थात् उसे देखते रहनेको किसका जी नही चाहता? तो भक्तका भाव कुछ पूर्व अवस्थाकी महिमा की ओर खिच गया, वह निर्मल आत्माके बाह्य वैभवपर एक झलक डालता है, आपकी महानता हर तरहसे है और वह अभी ही नही बनी है। आप गर्भमे आने के पहिले से ही इसका सन्देश लेकर आये है। आपका जन्म होते ही संसारने आपको एक अलौकिक पुरुषके रूपमे देखा है। ऐसे हे भगवन! आप हमे हमेशा शाति करने वाले हो। हे भगवन हम सबमे ऐसी निर्मोहिता आवे कि जिसमे शाति रहे उसमे कारण आप हों। आपका स्वरूप चितवन, मनन स्मरण कर हम निर्मोही और वीतरागी बनें।

संपूजकानां प्रतिपालकाना, यतीन्द्रसामान्यतपोधनाना।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ, करोतु शान्तिभगवाञ्जिनेन्द्र॥

श्री शान्तिजिनकीउपासनामे देश, राष्ट्र, नगर व राजाके शान्तिकी अभ्यर्थना—भगवानकी अर्चा करने वाला अपनी निर्मलता व्यक्त करता कि सम्यक् प्रकारसे भक्ति करने वाले या विवेकपूर्वक सत्यार्थ तत्त्वोकी वा सच्चे देव शास्त्र गुरुओकी धर्म धर्मायतनोकी यथायोग्य पूजा करने वालोको प्रजाकी रक्षा करने वाले शासकोको महान् तपस्वियो वा साधारण साधुओको तथा देश राष्ट्र वा नगरके व्यक्तियो को वा राजाको शांति लाभ आपके प्रसादसे आपके बताये हुये सत्यार्थपथके अनुसरणसे प्राप्त हो। सबको एक साथ शांतिकी कामना की जा सकती थी, लेकिन अलग अलग कहनेकी कुछ विशेषता है। वह यह यद्यपि पूजक लोगोमे शाति होती ही है, फिर भी वाह्य उपाधि रोग उपद्रव वा कलह आदिका निमित्त उनकी शांतिमे बाधक न हो जिससे कि मनमे क्षोभ वा क्लेश बढकर निर्मलतामे कमी पड़े। यही बात यतीन्द्रो और साधारण साधुओके लिये है। वे शान्तिके पथपर चलने वाले शान्त ही होते हैं लेकिन परकृत उपद्रव ऐसा रोग उपसर्ग आदि उनकी शान्ति मे बाधक न हों तथा कर्मोदयकी तीव्रता भी न आवे, जिससे कि शातिमे फरक पड़े अथवा मोक्षमार्गमें लगे हुये इन सबको वह आत्मस्वरूपकी स्थिरता प्राप्त हो जिससे पूर्ण वीतरागी बनकर शान्ति लाभ करे। देश राष्ट्र वा नगरमे शान्तिकी भावनाका मतलब है उनमे स्वयं शान्तिकी योग्यता आवे। आधि व्याधि और उपाधि न होकर भी यदि आत्मदृष्टि न होगी

तो शान्ति कैसे आवेगी ? अत इनमे इन सबको आत्माओमे से मोहका अस्तित्व खतम हो जाय या मन्द पडे । इन्हें अपना, अपने शात स्वरूपका भान हो जिससे ये शांति लाभ कर । भक्तकी यह भावना अपने लिये स्वय शांतिमे रहनेकी प्रेरणा करने वाली है । क्योंकि जब दूसरोको वह शात देखना चाहता है तो स्वय क्या अशान्त रहना चाहेगा ? कदापि नही । फिर दूसरोकी शान्तिके लिये भी अपना व्यवहार सच्चा सात्विक और कष्टहर बनाना पडेगा, परोपकार, दया समता और क्षमा सरलता, निरभिमान, निर्लोभिता, सयम, और स्वाध्याय की साधना रखनी पडेगी । यदि इन बातोपर ध्यान न रहेगा इसको नही पालेगा तो परस्पर विषय कषायोकी तीव्रता होगी और विषयकषायोकी तीव्रता होने से सपर्कमे आये हुए प्राणियोको आकुलता पैदा हुये बिना न रहेगी, अत जगतकी शान्तिको सच्ची अपील चाहने का मतलब है स्वय विषयकषायोपर विजय पाते हुए त्यागी सयमी और वीतरागी साधु का जीवन व्यतीत करें । गृहस्थाश्रममे भी इतना यथा साध्य निर्वाह हो सकता है । गृहस्थाश्रममे भी साधुता न हो तो अशान्तिकी बहुलता ही रहा करे, घर कुटुम्ब पडौस पडौसके व्यक्ति दुख, चिन्ता विषाद और विसवादमे ही पडे रहे । अत सात्विक जीवनकी उपादेयता हर एक क्षेत्रमे अवश्य ही है । जीवन जितना सात्विक होगा उतनी ही शांति रह सकेगी । इसमे कोई सन्देह नही है ।

क्षेम सर्वप्रजाना प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपाल ।
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ॥
दुर्भिक्ष चौरमारी क्षणमपि जगता मास्मभूज्जीवलोके ।
जैनेन्द्र धर्मचक्र प्रभवतु सर्वसौख्यप्रदायि ॥

का स्वभाव है, स्वभावका अस्तित्व तो कभी खत्म नही होता, फिर भी जब तक उसे पहिचाने नही, माने नही, उसमें रमे नही तब तक धर्म नही आया कहलाता, अत कल्याण चाहनेके लिये मूलतत्त्व है धर्मकी प्राप्ति। वह आनेपर बाह्य उपद्रव रोग मारी अतिवृष्टि अनावृष्टि दुर्भिक्ष आदि भी ना आवेगे, क्योंकि ये सब अनिष्ट प्रसंग पापके कारणसे उपस्थित होते है। फिर भी पूजक कहता है कि ये बाह्यपदार्थ उपद्रव क्लेश करने वाले नही, इनको नही चाहनेका भी मतलब अपना पुण्य जीवन बनानेका है। जगतका क्षेम चाहना स्वयं क्षेमरूप रहनेका द्योतक है। हम दूसरोको सुखी देखना चाहते है—यह निर्मलता उदात्त भावनाओका रूप है। जिसका हृदय कुटिल है, कठोर पापी और स्वार्थी है उसको क्या गरज पडी दूसरोके सुखके चाहकी ? अत. हे भगवन मैं स्वयं तथा संज्ञी सभी प्राणी कल्याणके मार्गमे लगे रहे, कल्याणमय हो, स्वयं तथा दूसरोके लिये कल्याणकर हो। किसी को किसी भी तरहका कष्ट न हो। रोग तथा और उपद्रव आवे ही नही। यदि आवे तो उन्हे समतापूर्वक सहन करने की हममे क्षमता हो जिससे कि हमारा कल्याणपथ प्रशस्त बनता जाय और हम पूर्ण कल्याणरूप हो।

प्रध्वस्तघातिकर्माण केवलज्ञानभास्करा:।
कुर्वन्तु जगत शान्ति वृपभाद्या जिनेश्वरा॰ ॥

वृपभा जिनेश्वरोकी उपासनामें सर्वलोकके शान्तिकरणकी अभ्यर्थना—घातिया कर्मोको नष्ट करने वाले तथा केवलज्ञानरूपी सूर्य जिनके उदित हो गया ऐसे ऋषभनाथसे लेकर महावीर पर्यन्त इस अवसर्पिणीके वर्तमान तीर्थकर तथा धातकीखंड और पुष्करार्धके अन्य ४ भरत क्षेत्रोमे हुये २४, २४ तीर्थंकर इसी तरह ५ ऐरावतोमे वर्तमान २४ तीर्थकर तथा भूतकालमे हो गये। इन सब क्षेत्रोके तीर्थंकर और भविष्यमे होने वाले इन सब क्षेत्रो के तीर्थङ्कर इसके अतिरिक्त विदेह क्षेत्रोमे विद्यमान २० तीर्थङ्कर वा भूत भविष्यके असंख्य तीर्थंकर वा तीर्थङ्करपदके अलावा भूत भविष्य वर्तमान कालसबधी अनन्त केवल ज्ञानी अरहंत जगतकी शाति करे। भरत और ऐरावतक्षेत्रोके चौथे कालमे जो तीर्थङ्कर या केवलज्ञानी हो चुके उन्हे वर्तमान कालिक कहते है, क्योंकि वे इसी अवसर्पिणीमे हुये है तथा आगे पीछेकी उत्सर्पिणीमे होने वाले भविष्यत वा भूत कालीन तीर्थङ्कर या केवली कहलाते है और विदेह क्षेत्रोमे तो निरन्तर एकसा ही चौथे कालके प्रारम्भकालके समान समय रहता है। जहा तीर्थङ्कर केवली वा सामान्य केवली हुआ करते है वहां कभी भी तीर्थका विच्छेद नही होता। जम्बूद्वीपका एक और पुष्करार्ध तथा धातुकी खंडके दो दो ऐसे ५ विदेह क्षेत्रो में अभी भी सीमन्धर युगमध आदि तीर्थङ्कर (कमसे कम २०) मौजूद है जिससे वहाँ अवावगतिसे मोक्षमार्गकी देशना वा साधना चल रही है वे सब विद्यमान तीर्थङ्कर कहलाते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि यहांके आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी अपनी तपविशेषकी शक्तिसे एक

देवके सहयोगसे विदेह क्षेत्रमे सीमन्धर भगवानके समवशरणमे गये थे और ७ दिन वहाँ रह कर साक्षात भगवानकी दिव्यध्वनि द्वारा मोक्षमार्गका उपदेश सुना था। कुदकुद भगवानने समयसार आदि ग्रन्थोमे आत्माका वैभव इस तरह प्रकट किया है जिससे उक्त बातकी प्रामाणिकता प्रगट होती है। ग्रन्थोमे जगह-जगह ऐसा भी कहा है कि यह तत्त्वोपदेश केवली द्वारा कथित है। साराश यह है कि जगतकी शान्ति तीर्थङ्कर या अन्य केवलियो द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्गके उपदेश द्वारा ही सम्भव है। आचार्यके ग्रन्थोमे जिनेन्द्रदेवके उपदेश की ही परम्परा है। विदेहमे मोक्षमार्गका द्वार कभी बन्द नही होता। भरत एरावत क्षेत्र मे बीच-बीचमे तीर्थ प्रवर्तकोका विच्छेद हो जाता है, परन्तु विदेह क्षेत्रोमे कभी भी नही होता और ढाई द्वीपके पाँच विदेहोमे से एक एकमे कमसे कम ४, ४ तीर्थङ्कर तो हमेशा ही रहते हैं और अधिक हो तो ३२, ३२ तक हो सकते हैं। पूजक अपनी निर्मल भावना व्यक्त करता है कि तीर्थ प्रवर्तक जिनेश्वरो द्वारा जगतकी शान्ति रहती है सो वे जगतकी शान्ति करें। यहाँ कर्ता न समझ लेना किन्तु निमित्त ऐसा है।

वृषभादि जिनेश्वरोका कालभावकी मात्र सक्षिप्त इतिहास—इस भरतक्षेत्रके दो भाग होते है—१ उत्सर्पिणी और २ अवसर्पिणी। ये १०, १० कोडाकोडी सागरके होते है। उत्सर्पिणीके बाद अवसर्पिणी और अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी काल आया करता है। अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी काल आया करते हैं। अवसर्पिणीके बाद जब उत्सर्पिणी आती है तब दुःखमदुःखमदुःखम अवसर्पिणीके और दुःखम तथा दुःखमदुःखम अवसर्पिणीके काल २१ २१ हजार वर्षके होते है। ८४ हजार वर्षोका अन्तर तीर्थङ्करोके विच्छेदका होता है और जब उत्सर्पिणीके बाद अवसर्पिणी आती है तब अन्तरालका समय बहुत बड़ा १८ कोडाकोडी सागरका पड़ता है। उत्सर्पिणी सुखमदुखम सुखम और सुखमसुखम काल जो कि २, ३ और ४ कोडाकोडी सागरके होते हैं। इस तरह ये तीन भूमिकाके ९ कोडा कोडी सागर तथा उसके बाद लगने वाले अवसर्पिणी कालके सुखमसुखम, सुखम और सुखमदुखम कालके ९ कोडाकोडी सागर, इस तरह १८ कोडाकोडी सागरका अन्तर तीर्थङ्करोके होनेमे होता है, क्योकि भोगभूमिमे तीर्थङ्कर या तीर्थ (धर्मतीर्थ) की प्रवृत्ति नही होती। यह तो कर्मभूमिके चौथे दुःखमसुखम कालमे ही होता है। यह नियम भरत क्षेत्रोके लिये है जहाँ अवसर्पिणी उत्सर्पिणीका क्रम चलता रहता है। भरत क्षेत्र ५ भरत और ५ ऐरावत ढाई द्वीपके हैं। तो इस जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमे इस अवसर्पिणीके चौथे कालके प्रारम्भमे हुए ऋषभदेव तीर्थंकर होने तक १८ कोडाकोडी, सागरका अन्तर रहा। और सागर तथा कोडाकोडीका तो माप करना उदको मात्र ही है। [illegible] किन्तु यहाँ

भी कह देते है-- कल्पना कीजिये कि दो हजार कोसका लम्बा चौडा और उतना ही गहरा एक गढ़ा हो उसमे उत्तम भोगभूमियाके पशुओंके जैसा वालोका ऐसा कतरन भरा जाय जिसके दूसरे टुकड़े न हो सकते हो। (हमारे वालोसे जघन्य भोगभूमियोके पुरषका वाल आठवां हिस्सा महीन होता है उससे आठवा हिस्सा बारीक वाल मध्यम भोगभूमियाके होता है और उससे आठवा हिस्सा बारीक उत्तम भोगभूमियाका वाल होता है) ऐसे वालों को खूब ठांस ठास कर भरा जाय, फिर सौ वर्षमे एक वाल निकाला जाय, जितने समयमे वे सब वाल निकल जावे उतने समयका व्यवहार पल्य होता है। उससे असंख्यातका गुणा करने पर जो लब्ध हो वह उद्धारपल्यका प्रमाण होगा। उद्धारपल्यसे असंख्यात गुणा एक अद्धापल्य होगा तथा एक करोड़मे एक करोडका गुणा करनेसे जो संख्या आवे उसे कोड़ा-कोड़ी कहते है, जो कि संखसे ऊपर बहुत अधिक संख्या होती है। ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्योंका एक सागर होता है। इस तरह १८ कोडाकोडी सागरका समय ऋषभदेव तीर्थङ्कर होनेके पहिले हुए तीर्थङ्करके बीचमे गुजरा। जब ऋषभदेव तीर्थङ्कर हुए (भरत क्षेत्रमे) और उन्होने तीर्थ मार्ग चलाया। इस अपेक्षासे तथा कर्मभूमिके सबसे आदि तीर्थ-ङ्कर होनेके कारण शान्तिपाठमे उनका ही नाम लेकर आदि शब्दसे अन्य सब कालोके सब क्षेत्रके तीर्थङ्कर वा सामान्य केवलियोका स्मरण जगतकी शान्तिके अर्थ किया है। सो भगवान तो अपने स्वरूपमे लीन है, उनकी उपासना करनेसे जो निर्मलता होगी उससे शाँति प्राप्त होगी।

श्रीजिनकी प्रध्वस्तघातिकर्मता—भगवान अरहंत कैसे होते है ? घातिया कर्मोको नाश करने वाले होते है। घातियाकर्म ४ है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। इनमें मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है उसमे भी दर्शन मोहनीय वा चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषाये और भी अधिक जीवके गुणोको घातने वाली है। अत. सम्यग्दर्शन से पहिले इन्ही प्रवृत्तियोको नष्ट किया जाता है, वादमे चारित्रमोहनीय कर्म नष्ट होता है। मोहनीयके नष्ट होनेपर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनो एक साथ क्षीण होते है। ऐसे जीवके अनुजीवो गुणोको घातनेवाले घातिया कर्मोका अभाव होनेपर केवल-ज्ञानरूपी सूर्यका उदय होता है जो कि शक्तिरूपमे आत्माके अनादिकालसे होता है। उसकी प्रगटता घातिया कर्मोके अभाव होनेपर ही होती है। इस कार्यमे सबसे पहिला मोर्चा सम्यग्दर्शनका है। सम्यग्दर्शन होनेपर अन्य घातिया और फिर अघातिया कर्मोका नाश नियमसे होता ही है। ऐसा सम्यग्दर्शन भेद विज्ञानसे प्रगट होता है और भेदविज्ञान तब होगा जबकि वस्तुको समझनेमे उपयोग लगाया जाय। मनुष्यपर्यायमे यह कार्य और उसके भी आगे संयम धारण करनेका कार्य होना सुसाध्य है, अत. यह तन मिला है तो उसको

शास्त्राभ्यासो जिनपदनुति. सगति. सर्वदार्यै.,
सदवृत्तानां गुणगणकथा, दोषवादे च मौनम् ।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्वे,
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यात्रदेतेऽपवर्ग ॥

प्रभुकी अभ्यर्चनामें सप्तसारलाभकी अभ्यर्थना—यहाँ भक्त अपने लिये क्या चाहता है ? हे नाथ ! जव तक मुझे मोक्ष प्राप्त न हो जाय तब तक शास्त्रोंका अभ्यास, जिनेन्द्र भगवानके चरणोकी पूजा, सर्वदा धर्मात्माओकी संगति, चरित्रशील पुरुषोंकी गुणगाथा, किसी के दोष कहनेमे मौन वृत्ति, सबके लिये प्रिय और हितकारी वचन, आत्मतत्वमे भावना—ये वाते मुझे भव भवमे प्राप्त होती रहे जब तक कि मेरा भव वाकी है। पूजककी इसमे स्वार्थपरताकी भावना नही समझना कि जब तक मोक्ष नही हो पाया तव तक तो भगवान की स्तुति पूजा आदि पुण्य कार्य करे और मोक्ष हो जाय तो फिर दरकार नही है। और मोक्षके लिये ही तो ये सव करते है। मुमुक्षु सच्चे अर्थोमे स्वार्थी होता है। स्व माने आत्मा उसका अर्थी माने इच्छुक। आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका इच्छुक होना मुमुक्षु होनेका ही मतलव है। अत: संसारवासके सयय तक उक्त रीतिकी प्रवृत्ति और भावना रखना कल्याणप्रद बात है। आगे कोई तरंग रहती नही तो मुक्त अवस्थामे भी वह भक्तिके भावकी बात कैसे कहे ? भैया श्रद्धा यथार्थ रहे।

शास्त्राभ्यास जिनपतिनुति व सर्वसंगतिकी भावना— सुख शान्तिका उपाय शास्त्रोके परिशीलनमे वा सम्यग्ज्ञानमे है। शास्त्रको तीसरा नेत्र वतलाया है। इन चर्मचक्षुओसे जो नही दीख पाता वह सव शास्त्ररूपी नेत्र से दिखता है जहाँ कि सूर्यका प्रकाश भी नही पहुंच सकता। शास्त्र कैसा हो. – आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्वोपदेशकृत् सार्द, शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ जो आप्त पुरुपके द्वारा कहा गया हो, जिसका उल्लङ्घन न हो सकता हो, जिसमे पूर्वापरविरोध न हो, प्रत्यक्ष और परोक्षप्रमाणोसे जिसमे बाधा न आती हो, तत्त्वोंका उपदेश करने वाला हो, सब जीवोंका हितकारक हो और खोटे मार्गका नाश करने वाला हो ऐसे शास्त्रोका अभ्यास सतत हो। तथा जिनपदनुति:—प्रत्येक रोगीको चाहे वे शरीरके रोगी हो अथवा शल्य चिता राग, द्वेष और मोह आदिके कारण भीतरी रोगी हों सवको भगवानकी भक्तिमे तत्पर रहना परम आवश्यक है। यह वह औषधि है जिससे रोगकी जड़ ही खतम हो जाती है। संगति सर्वदार्यै:—हमेशा आर्य पुरुषोंका समागम वना रहे। दुनियामे सत्समागमका अवसर एक अनुपम सुवर्ण अवसर है। उससे आत्म-वैभव बढता है। किसी व्यक्तिकी पहिचान अच्छे बुरेकी करनी हो तो उसकी गोष्ठीको देखकर की जा सकती है। कुसंगतिको पसन्द करनेवाला व्यक्ति सज्जन नही हो सकता। और सुसंगतिमें रहनेवाला दुर्जन वा पापी नही होता। इस वर्तमान कालमे कल्याणकी दो

बातें ही प्रमुख हैं—१–स्वाध्याय और २ सत्समागम। जीवनमें ये दोनों अधिकसे अधिक बनाये रखना चाहिये। शरीरको भोजन तो मल बनकर निकल जाता है लेकिन ज्ञानरूप आत्माका भोजन चिरस्थायी और सुख शांतिके लिये होता है। उन्नतिके लिये स्वाध्यायके अतिरिक्त सत्समागमसे भी बड़ा सहारा मिलता है, भावनाएं निर्मल होती हैं, ज्ञान विशाल और परिपुष्ट होता है तथा श्रद्धामें दृढ़ता आती है।

गुणगणकथा व दोषवादमौनकी भावना—गुणगणकथा–गुणियोंके गुण वर्णन करें। गुणपर दृष्टि होनेसे गुणोंकी वृद्धि होती है। सच्चरित्र पुरुषोंके गुणगान करनेसे योग्यता बढ़ती है, निराकुलताका मार्ग प्रशस्त होता है। गुण वर्णन करनेसे स्वयंको प्रसन्नता प्राप्त होती तथा सुनने वाले वा जिसकी कथा की जाती है उसे भी संतोष मिलता है। यदि प्रशंसा सुननेका इच्छुक नहीं है तो भी निन्दा पानेमें जो आकुलता बढ़ सकती है वह तो नहीं होती। गुणोत्कीर्तनसे उस व्यक्तिमें भी जो गुण बखान रहा है उन गुणोंके बढ़ानेकी भावना बनती है और जिसकी की जा रही है वह भी गुणोंमें बट्टा नहीं लगने देनेकी भावना मजबूत करता अथवा प्रोत्साहन पा गुणोंको और बढ़ाता है। इस तरह गुणकथाका यह व्यवहार प्रशंसनीय है। दोषवाद व मौनम्–दोषोंके कहनेमें मौन रहें। दोष न होनेपर दोषारोपण करना तो एक महान अपराध है ही, किन्तु दोष हो तो भी उनके उद्घाटनकी भावना न उठना चाहिये। यदि हमें उनपर दया आती है या उनके दोषका दूर करनेकी शुभभावना हुई है तो उसमें पाये जाने वाले गुणोंका आदर कर (क्योंकि हर व्यक्तिमें कोई न कोई गुण अवश्य होता है) पीछे इस ढंगसे ध्यान करना चाहिये कि उसे बुरी भी न लगे और वक्तव्यका बोध कर बुरी आदत या कार्यको छोड़ दे। पहिले तो दोषोंपर दृष्टि ही न जाने दे, यह उत्तम है। क्योंकि विकल्पोंको बढ़ाना नहीं किन्तु घटाना ही कल्याणप्रद है। यदि विकल्प हो भी जाय भी तो किसीको संताप हो, ऐसा व्यवहार कदापि न होना चाहिये। निन्दात्मक वृत्ति वैर और विसंवादको बढ़ाती है। दोष कथन तकके लिये कलहकी परम्परा चलती है। अतः आत्म-कल्याणके इच्छुकोंको तो इससे सदा दूर ही रहना चाहिये।

सबके प्रति प्रिय हित वचनकी भावना—सर्वस्यापि प्रियहितवचनं–सबके प्रति प्रिय और हितकर वचन बोलें। ऐसे वचनोंसे वातावरण शीतल होता है, शान्ति रहती है, उत्तम विचारोंकी उद्भूति होती है, आपदाओंका सरलतासे परिहार होता है। कठिन कामका भी मधुरतासे सरलतापूर्वक किया जा सकता है। [illegible] मार्गमें बाधा नहीं पड़ती। बाधा आनेपर भी मधुरवाणीसे [illegible] हो जाता है। प्रिय वचनोंमें और साथ हितकारी वचनोंमें यह बल है कि [illegible] मनुष्य बनाया जा सकता है। इस [illegible] है। अतः

कहा जाय इसके विषयमे ? यह गुणउत्तम रूपसे तो साधुओके ही पाया जा सकता है क्यो कि मानस पटलमे यदि परमात्मीय शक्तिकी छाप न पडी हो तो ऐसा होना संभव नही हो सकता। हृदयमे माधुर्य न हो तो वाणीमे कदापि नही आ सकता। यदि स्वयं हितके लिये हृदयमे स्थान न हो तो दूसरोके हितकी बात कैसे निकल सकती है ? और अपने वा दूसरोके हितका विचार भी किया जाता है तो भी वह विचार वास्तविक है या नही, यह भी तो एक प्रश्न है। सच्चे हितके लिये सच्ची श्रद्धा चाहिये और सच्ची श्रद्धाके लिये आत्मप्रतीती चाहिये, आत्मा और शरीरको यथार्थज्ञान चाहिये—इस तरह परहितके लिये प्रिय वचन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी अपेक्षा रखते है। यो तो लोक व्यवहारसे हितकारी मीठे वचन बोलना पक्के नास्तिकोसे भी सम्भव है। जिन्हे इसका पता ही नही कि किसका हित और हित क्या व अहित क्या ? आदि। लेकिन यह तो परमात्मा की पूजाका प्रकरण है इसमे नास्तिकता और लोकव्यवहारके लिये स्थान नही है। यहाँ तो मोक्षमार्गका ही निरूपण है, वही लक्ष्य है और फल भी उसीका चाहा जा रहा है।

आत्मतत्त्वभावनाकी भावना—भावना चात्मतत्त्वे–हे प्रभो ! भवभवमे आत्मतत्वकी भावना जागृत रहे। मै शरीर और कर्मोसे अलग हू। यहाँ तक कि काम क्रोधादि विकार मेरी निजी संपत्ति नही। यद्यपि ये मेरे ही विकार है पर मेरे स्वभावमे नही, संयोगसे होने वाले है। उस तरह भेदविज्ञान करके सच्चिदानन्द रूप परमात्माका अनुभव हो जानेपर आत्मतत्वकी भावना रहा ही करती है। चैतन्य भावोकी तरफ दृष्टि लगानेसे यह सब संभव होता है। यदि हमारी दृष्टि संसारकी चीजोमे स्त्री पुत्र वा धनादिमे गड़ रही हो तो आत्मतत्वकी भावना संभव कैसे होगी ? कदापि नही। हर एक चीजका आधार तो होता ही है। आत्मतत्वकी भावनाका आधार आत्मतत्व है। आत्मतत्व अमृतत्व है। यह हाथ लग जानेपर और किसीकी चाह नही रहती और चाह इसलिये नही रहती कि इसमे सब इच्छाओकी इति है। पूजककी ये पूर्वोक्त भावनाए उसके उज्ज्वल भविष्यकी सूचक है। पूजा (भगवत्पूजा) का महत्त्व तो ऐसा है कि आत्मा पूज्यके समान गुणोमे रहने लगता है। यदि वह रग न आवे तो पूजा ही न हुई समझिये। अभी तक सच्ची पूजा एक बार भी कर नही पाये। यदि ऐसी पूजा की होती तो संसारका बसेरा मिट जाता। फिर भी हताश होनेकी बात नही। आगे अनन्त प्राणी अपनी भूलोको दुरस्त करके सत्पथ पर लगेगे ही, मोक्ष जावेंगे ही, मोक्षका दरवाजा आगे अनन्त काल तक कभी भी बन्द नही होगा। पतित आत्माएं पावन बनती रहेंगी। जो प्राणी जब तक नही समझे सो नही समझे, लेकिन हमेशा एक सी दिशा सबकी चलती रहेगी सो बात तो है नही। यही समझ लेना चाहिये कि हमारी काल-लब्धि स्वरूपबोधकी आ गई है। अब हमे अपना उपयोग सब तरफसे खीचकर इधर लगा

दना चाहिये। थोड़ी दृष्टि फेरनेकी जरूरत है। है तो सब कुछ इसमें। अपने प्रभुकी पूजा करनेसे उसके चैतन्य प्राणोंकी प्रतिष्ठा अवश्य होगी, इसमें सन्देह नहीं है।

तव पादौ मम हृदये ममहृदयं तव पदद्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद् यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः॥

तत्त्वज्ञ भक्त द्वारा प्रभुचरणसेवाकी सविवेक अभ्यर्थना—हे प्रभो! जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक तुम्हारे चरण मेरे हृदयमें रहें और मेरा हृदय तुम्हारे चरणोंमें रहे। जगतके जीवोंने अन्य तमाम पदार्थोंको अपने हृदयकी वस्तु बनाकर अपनाया, बलिदान किया पर भगवानका शरण गहकर अपनेको निष्कलंक नहीं बनाया। जो जिनेन्द्र संसारके दुःखोंसे पार हो चुके, अनन्त चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य) मय हो चुके हैं उनके स्मरणमात्रसे भव्यजीव कल्याण कर लेते हैं। बहिरात्माओंको अन्तरात्मा बनने और अन्तरात्माओंको परमात्मा बननेका निमित्तरूपसे यदि प्रधान कारण कहा जा सकता है तो वह है जिनेन्द्र भगवानका शरण। यद्यपि कई प्राणी समवशरणमें भी कई बार पहुँच चुकते हैं, वहाँ साक्षात् विराजमान अरहन्तका दर्शन करते हैं, दिव्यवाणीका श्रवण करते हैं पर वास्तवमें न तो जिनेन्द्रका दर्शन करते हैं और न उनकी वाणी सुनते हैं। अरहन्तका जो शरीर दिव्य तेजपूर्ण और अनेक अतिशयोंसे सहित है वह शरीर अरहन्त नहीं है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन ४ कर्म अरियोंका हनने वाला वह शरीर नहीं है, वह तो इन कर्म शत्रुओंका ध्वस्त करनेवाला अनन्तशक्तिमान, चैतन्यशक्तिसे परिपूर्ण सदा ज्ञान दर्शनके परिणमनमें रहने वाला आत्मतत्त्व है, जो बाह्य दृष्टिसे किसीने कभी नहीं देख सकता। वह तो अमूर्तीक एवं स्वसंवेद्य ज्ञानमय अन्तर्दृष्टि द्वारा ही देखा जा सकता है। समवशरणके बीच श्रीमण्डपमें विराजमान, औदारिक शरीर में व्याप रहा है। जो शुद्ध चेतनतत्त्व है वह अरहन्त है उसका दर्शन अपनी आत्माका दर्शन होनेसे ही हो सकता है, क्योंकि हमारी आत्मा और अरहन्तकी आत्मा की जाति एक है स्वभाव और स्वाभाविक गुण एक हैं, जब अपनी परख आती है तब अनुभव होता है कि जैसा स्वभावमें शुद्ध केवलज्ञानादिकसे परिपूर्ण मेरा आत्मा है वैसे ही अरहन्त व्यक्तरूपमें बन चुके हैं। तो जिनेन्द्रके दर्शन आत्मदर्शनपूर्वक होते हैं और आत्माके दर्शन अरहन्तके यथार्थज्ञानपूर्वक होते हैं। कहा भी है—"जो जाणदि अरहन्तं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।" अर्थात् जो अरहन्तको द्रव्य गुण और पर्यायकी यथार्थतासे जानता है वह अपनेको जानता है और उसका मोह निश्चयसे लीन हो जाता है। यही बात दिव्यध्वनि सुननेके बारेमें समझिये। केवल उस मधुर और तत्त्वोंका निरूपण करनेवाली वाणी का सुन लेना मात्र सुनना नहीं है किन्तु सुनकर अब

दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाहिमरण च बोहिलाहो य ।
मम होहु जगतबांधव तव जिणवर चरणशरणेन ॥

श्रीजिनचरणशरणसे दुःखक्षय, कर्मक्षय, समाधिमरण व बोधिलाभकी भावना—हे जगतके बन्धु भगवान ! तुम्हारे चरणोकी शरणसे मेरे दु.खोका क्षय हो, समाधिमरण हो और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो। आप ही मेरे ही नही सारे संसारके सच्चे बन्धु है और इसलिये निरपेक्ष बन्धु है। आपके चरणोका शरण गहना यही है कि मै अपने हृदयमे आपका स्वरूप लाऊं। सो भगवन यह भी व्यवहार ही है। आपका स्वरूप तो आपमे ही रहेगा, आप आपमे ही रहेगे लेकिन मै अपनी शुद्ध आत्मामे विकल्पकी अवस्थामे कल्पना द्वारा जो चितवन कर सका वह आपका शरण है। सो हे भगवन यह भी तो व्यवहार है। आपके चरणो का शरण गहना यही है कि मै स्वय अपने शुद्धस्वरूप (जैसे कि आप हो) मे लीन हो जाऊं। हे भगवन ! इस तरह आपका शरण गहनेसे दु.खोका नाश होता है। दु खोंकी कल्पना करानेवाली मोह प्रकृतिका ही अभाव हो जाय और उसके स्थानमे आत्म-रमणता आ जाये तव दु ख और उसके निमित्त कारण कर्मका क्षय हुये विना नही रह सकता। कर्मक्षयके लिये भी भेदज्ञानपूर्वक स्वात्मदेवके चरणोकी शरण लेनी आवश्यक है। ऐसा शरण प्राप्त कर लेनेपर दु खोका क्षय और उनके कारण कर्मोका क्षय होगा ही। कर्मोका क्षय भी समाधिमरण हुये विना नही हो सकता। अन्तमे भी अघातिया कर्मोके क्षयके लिये समाधिमरणका सवसे उत्कृष्ट रूप, जिसे पडितपडितमरण या सम्मानके साथ बोला जाय तो निर्वाण कहते है, कारण है। समाधि मरणकी वडी विशेषता है। समाधि अर्थात् आत्मानुभूतिपूर्वक मरण होने पर संसारका उच्छेद होनेमे अधिक समय नही रहता। समाधिमरण को विज्ञजन महा उत्सवके नामसे कहते है। यह महोत्सव कोई विरले महाभागी को प्राप्त होता है। लोग वैभवशालीको भगवान मानते है लेकिन यह उनकी विकार दृष्टिका कथन है। भगवान तो वह है जो भगवानके भावको प्राप्त हो गया और समाधिमरण उससे भी महत्त्वपूर्ण होनेसे समाधिमरण करनेवाला महाभगवान है। जन्मसे मरणकी महत्ता अधिक है, किन्तु संयोगी दृष्टिवाले जन्मको महत्त्वशाली सुखकारी समझते है और मरणको आपत्ति वा दु खकारी मानते है। जन्मके वाद संसार ही है किंतु मरणके वाद संसारसे पार भी हुआ जाता है। मरणके वाद जीवको यदि जन्म न लेना पड़े तो उस मरणको मरण न कह निर्वाण कहते है। समाधिमरणका ऐसा महत्त्व है कि प्रत्येक निकट भव्यजीव उसकी कामना करता और उसके लिये जीवन भर साधना करता है। समाधि-मरणके कुछ क्षणोकी सफलताके लिये जीवनभर उसकी सिद्धिमे व्रत तप जप यम नियम आदि किये जाते है, इससे उसकी महानता स्पष्ट है।

समाधिमरणकी आवश्यकतापर चित्रण—किसी एक स्त्रीकी घटनाका जिक्र सुना जाता है कि एक स्त्रीके प्रसव हुआ लेकिन इसमें वह मरनेको हो गई। पतिको बहुत चिंता हुई, उसने पत्नीको धैर्य बंधाया। पतिने प्रेम दिखाया तब वह बोली—यह तो आपका झूठा प्रेम है, हमारे मरनेपर आप शीघ्र ही शादी करके दूसरी स्त्रीके पति बन जावेंगे और ये बच्चे मारे मारे फिरेंगे। पतिने दूसरी शादी न करनेकी प्रतिज्ञा ली। उसके मरणका समय निकट आया तब स्त्री बोलती है कि यदि आप मुझसे सच्चा प्रेम करते हैं तो एक बात मानो। उसने स्वीकार किया। तब वह बोलती है कि अब मेरा आपका कोई स्वत्व नहीं, हमें समतापूर्वक मरने दीजिये। आप और अपने बच्चेको लेकर यहाँसे चले जाइये। पतिने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और वीर धर्मप्राण महिलाने समतापूर्वक प्राणोंका विसर्जन किया। इसलिये यद्यपि उस महिलाकी शारीरिक अवस्था अशुद्ध थी परन्तु अंतरात्मा शुद्ध था, सो समाधिमरण कर ही लिया। कोई चाहे तो अपने भावोंकी सम्हाल करके समता या समाधिपूर्वक मरण कर सकता है लेकिन यह सच्चे अर्थोंमें सम्यग्ज्ञान बिना संभव नहीं है। जब तक सम्यक् बोधिका लाभ नहीं होगा तब तक समाधि न होगी। भक्त पूजक यह कह रहा है कि बोधिका लाभ भी हो। आपके चरणोंकी शरणमें आनेसे यह सब संभव होगा। इसी विश्वाससे आपसे यह आशा प्रगट कर रहा हूँ। स्वपदके अनुरागको लक्ष्यमें लिए हुए विपन्न की अवस्थामें कर्मक्षयसिद्ध भगवानके प्रति श्रद्धा और भक्तिमें भरा हुआ भगवानके प्रति अपनी शुभ कामनाएं निष्काम होनेके लिये प्रगट कर रहा है। शुभ कामनाओंका मतलब यहाँ शुभकी कामना नहीं लेना किन्तु शुद्ध उपयोगके लिये जो पवित्र भावनाएं पृथक भूमिकामें बनती हैं ऐसी पवित्र भावनाओंको यहाँ शुभकामना शब्दसे कहा गया है। उपादेय तत्त्वकी प्राप्तिका यहाँ प्रयोजन है।

त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानन्दैककारण कुरुष्व।
मयि किंकरेऽत्र करुणा यथा तथा जायते मुक्तिः॥

के लिये ये सब व्यवहार कर रहा है।

ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि शास्त्रोक्त न कृतं मया।
तत्सर्वं पूर्णमेवास्तु त्वत्प्रसादाज्जिनेश्वर ॥

सविधि अर्चन न किये जा सकनेके दोषकी आलोचना—हे जिनेश्वर ! अपने उद्देश्य के अनुसार आपकी जो पूजा की है वह जाने वा अनजाने शास्त्रमे कही गई विधिपूर्वक नही बन सकी है, अत उनमे जो त्रुटियाँ रह गई हो या जो दोष लगे है आपके प्रसादसे उन दोषोकी क्षमा याचना हो त्रुटियोकी पूर्णता हो। लोकके शिष्टाचारमें भी ऐसा कहा जाता कि आपकी कुछ भी सेवा नही बन सकी, दूसरेका कितना भी आतिथ्य किया जाय किन्तु वह यथाविधि और पूर्ण हो सका यह नही कहा जा सकता। फिर यह तो भगवानकी पूजा है। भगवान जैसी महान आत्माके लिये हम कितना समादर प्रगट कर सकते है ? जन साधारणमे कर्तृवाच्यका प्रयोग ज्यादा चलता है और अध्यात्मवादमे कर्मवाच्यका प्रयोग अधिक होता है। कर्तृवाच्य और कर्मवाच्यके अन्तरका बडा रहस्य है। मै पढ़ाऊंगा यह कर्तृवाच्यका प्रयोग हुआ, इसमे दूसरेको पढानेकी क्रियाका कर्तृत्व आया और जिसको पढावेगा उसमे कर्तृत्व आया। इसीको अध्यात्मदृष्टिसे यो कहा जायगा कि वह मेरे द्वारा पढाया जावेगा—इस प्रयोगमे पढ़नेकी क्रियाके कर्तृत्वका अहंकार नही झलकता। यद्यपि कर्म-वाच्यमे भी द्वारा शब्दका प्रयोग हुआ है किन्तु इस वाच्यमे कर्ता गौण है। इस कर्मवाच्य के प्रयोगमे क्रियाका असर कर्मपर पड़ता है। इस तरह कर्तृवाच्यके प्रयोगमे परकर्मत्वकी वात है जब कि कर्मवाच्यमें उसकी गौणता है। यहाँ कर्तृवाच्यका प्रयोग भक्तने किया है। वास्तविक वात यही है कि प्रत्येक द्रव्य अपनेको ही कर सकता है याने अपना कर्ता दूसरा कदापि नही, स्वयं ही होता है और वह क्रिया भी उसी द्रव्यमे की जाती है, अत. क्रियाका असर भी वाहिर न होकर स्वय उसी द्रव्यमे होता है अत कर्म भी वही पड़ता है। इस विसर्जन पाठमे भी कर्मवाच्यके द्वारा स्वलक्ष्यको दुहराया है। अर्थात् आपकी मैंने पूजा की, इसमे परकर्तृत्वको वात आती है। किसीकी पूजा कोई दूसरा कैसे कर सकता है ? क्योकि एक दूसरेका कर्ता निश्चयत नही होता। सहजसिद्ध भगवानके प्रति पुजारी कहता है कि हे प्रभो ! आपकी पूजाका लक्ष्य तो वनाया था किन्तु शास्त्रविहित रीतिसे नही पूजे जा सके, अद्वैत भावसे पूजा नही वन सकी। वहुत कोशिश की मैंने कि अपने अभेद रूपकी पूजा कर सकूँ लेकिन नही वनी। जैसे— वालकको एक मिठाई चखनेको दी जावे, वच्चेको उसका स्वाद पसन्द आया, अव जव उसे चखनेका खयाल करता तव रुलाई आती। दूसरेको इसका पता नही कि यह किस कारणसे रो रहा है ? इसी तरह पूजकने प्रभुपूजाका ऐसा कुछ स्वाद ले लिया है कि वाह्य विकल्पमे रहनेपर कहता कि मैं प्रभुकी

सच्ची पूजा तो कर ही नही पाया परमात्मत्वको तो मैं पहुच ही न पाया। सो हे जिनेश्वर देव ! तुम्हारे प्रसादसे वह पूरी हो जावे।

बाह्य अभ्यर्चनाकी अन्तः अभ्यर्चनामें सहयोगिता—बाह्यमें जब शुभोपयोगकी एकाग्रतापूर्वक अच्छी तरह पूजा की तब पुजारी ऐसा कहनेका अधिकारी है और यदि चित्त दक्ष और स्वके लक्ष्य बिना बाह्य पूजा करे तो ऐसा कहनेका अधिकारी भी नही। प्रश्न होता कि भगवानके प्रसादसे वह त्रुटि पूर्ति कैसे हो जावेगी ? तो अपने आपमे जो अभेद भावकी दृढता आवेगी उसीमे उसकी पूर्ति हो जावेगी। स्वयमे ही पुजारी और पूज्यकी एकाग्रतामे ऐसा हो सकेगा। देखो उपयोग तो पुजारी है व चैतन्य भगवान है। इनमे अन्तर क्या है ? बाह्य और आभ्यन्तरका। चेतनका जो व्यवहार है वह विशेष है, वह उपयोग रूप तो पुजारी हुआ और सामान्य चैतन्य भगवान हुआ। उपयोग चैतन्यसे कह रहा है किन्तु जिससे कहा जा रहा है वह सुनता नही। मत सुनो उपयोग पुजारी तो मगन ही हो रहा है। भगवान सिद्ध अरहन्त भी तो उपेक्षक हैं। जैसे कमक्षायसिद्ध अचल हैं उसी तरह हमारे मे जो चैतन्य सामान्य है वह भी अचल है। उससे उपयोग पुजारी कह रहा है। दिशाका जो स्रोत है उसका अवलोकन सम्यग्दर्शन है और इसके विपरीत सब अन्य हितबुद्धि मिथ्यादर्शन। आत्माके परिणमनोंके आधारको देखना ही उपादेय है, यह बात समझ आई, लेकिन हे भगवन मैं विकल्पमे अटका रहा इसलिये वास्तविक पूजा नही हुई। निर्विकल्पतामे कुछ क्षणके लिये गया तो स्थिर न रह सका। इस भवमे अनेक पहिले तो मैं आपकी यथोचित पूजा कर ही नही सका, नही तो इस तनमे यहाँ क्यो रहता ? हमारा स्पष्ट अनुभव है। एक दृष्टान्त है एक आदमीको लोग मूर्खराज कहा करते थे क्योंकि वह वास्तविक मूर्ख था। अपना यह नाम सुनते सुनते वह ऊब गया और सोचा कि चलो इस गांव से ही चल दें तब कौन कहेगा मूर्खराज ? चलकर किसी गावके बाहर आराम लेने गए और कुएकी पाटपर पैर कुयेमे लटकाकर बैठ गये। जब कुयेपर एक आदमी आया और उसका ध्यान वहां इसमे बैठा देखा तो वह उठा कि तुम तो बड़े मूर्खराज हो। मूर्खराज बोले—भाई मेरा यह नाम कैसे पता लगा ? तब उत्तर मिलता है तुम्हारी करतूतसे। सो हे भगवन हम जो इस दशामे हैं यही सबूत है कि पहिले कभी सच्चे अर्थोंमे पूजा नही की। इसलिए हम आपकी आज्ञाओंको भी आज्ञाकी दृष्टिसे नहीं देखा। केवल इष्ट अनिष्ट विकल्प करते रहे।

आह्वानं नैव जानामि, नैव जानामि पूजनम्।
विसर्जनं न जानामि, क्षमस्व परमेश्वर॥

तत्त्वज्ञ भक्तकी जिनधर्मानुवासितताकी भावना—जिन धर्मसे रहित होकर मुझे चक्रवर्ती होना भी पसद नही है। और जैन धर्मसे सहित दास और दरिद्री होना भी सहर्ष मंजूर है। इस तरहकी भावनामे आत्माकी दृढ प्रतीतिका भाव झलक रहा है। जब तक आत्मतत्त्व या परमात्मवैभवका पता नही होता तब तक संसारके वैभवकी ही चाल करता रहता है लेकिन जहाँ आत्मवैभवको दृष्टिगोचर कर लेता है वहाँ ऐहिक सब पदार्थ तुच्छ और हेय मालूम पड़ने लगते है। आत्मवैभवको दिखाने वाला या स्वयं आत्मवैभवरूप ही जैनधर्म है इसलिये पूजक उस धर्मकी ही छत्रछायामे रहना चाहता है। लौकिक दृष्टिसे चाहे उसकी कैसी भी अवस्था हो ?

जन्म जन्म कृतं पाप जन्म कोटिमुमार्जितम् ।
जन्म मृत्यु जरा रोगं, हन्यते जिनदर्शनात् ॥

प्रभुदर्शनका महत्त्व—जिनेन्द्र भगवानके ध्यानसे करोडो जन्मोमे किये गये पाप ध्वस्त हो जाते है। जिनेन्द्रकी पर्याय विशुद्ध ज्ञान दर्शनरूप है। उस शुद्ध पर्यायका ध्यान करनेसे द्रव्यका ध्यान आकर निर्विकल्प स्थिति आ जाती है। जिनेन्द्र भगवानका शरण मिल जाने पर यह जीव अपनेको अशरणरूप नही मानता। क्योकि सच्चा शरण चैतन्यका मिल जाता है उसे। उसे अपना और व्यवहारमें भगवानका अनन्यशरण है। भगवानका ध्यान करनेसे, जन्म बुढ़ापा और मृत्युका रोग नष्ट हो जाता है। बच्चेके पैदा होने पर दूसरे कितनी ही खुशिया मनावे पर उसे जो दुःख होता है उसे वही जानता होगा। इसका प्रमाण यह है कि पैदा होते ही बच्चा रोता है। बुढ़ापेमे शरीरकी शिथिलता आनेसे अनेक तरहके दुःख होते है और मृत्युके नामसे ही लोग डरते है। ये तीनो क्लेशके कारण है। इन क्लेशोका कारण पाप है। और सबसे बडा पाप मिथ्यात्व है, इसमे कुछ सूझता नही है और परभावका पाप निरन्तर करता रहता है। दुःखका मूल मिथ्यात्व ही है। और इनसे जो कषायभाव होते है वे दुःखके कारण होते है। जीवको दुःख कषाय भावका ही है। इसमे रंचमात्र सोचने समझनेकी जरूरत नही है। ऐसे कषायभावोका बाप है मिथ्यात्व। वस्तुके स्वभावका जहाँ बोध नही होता वहाँ पर्यायपर दृष्टि रहती है, एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता समझता है, एक चीजसे दूसरी चीजका सम्बन्ध स्थापित करता है, इसीसे दुःख होता है। इसके सिवा और किसी बातका दुःख नही है। सो ये सब दुःख जिनेन्द्र भगवानके स्मरण करने से, ध्यान करने से दूर हो जाते हैं। यदि उपयोगमें क्रोध, लोभ आदि राक्षस अपना अड्डा जमाये हैं, जिनेन्द्र भगवानके ध्यानका अवकाश नही तो दुःखसे छुटकारा नही और यदि भगवानके ध्यानके लिये अवकाश है तो ये राक्षस पलायमान होंगे और उन्हीके साथ दुःखका भी अन्त हो जायगा। कहते हैं ना कि—ज्ञान दीप तप तैल भर

घर मोह कर्म चोर । या विध बिन निकसै नही पैठे पूरव चोर । जैसे घरमे घुसे चोरोको भगानेके लिये दीपकको उजालकर प्रकाश किया जाता है पीछे चोरोको भगाया जाता है उसी तरह आत्मारूपी घरमे मोहरूपी चोरोको भगानेके लिये ज्ञानरूपी दीपकमे तपरूपी तैल भरकर उजेला किया जाय तो कर्मचोर अपने आप भाग जावेंगे । भगवा के स्मरणसे यही काम होता है पाप कर्म दूर होते हैं, पुण्य कर्मकी उदीरणा होती है, लौकिक सपत्ति भी मिलती है पर पूजक उसे ठुकरा देता है ।

प्रभुभक्तके प्रभुभक्तिकी अभ्यर्थना—भगवानकी पूजा कल्प वृक्षके समान है इससे सब कुछ मिलता है । पर चाहनेसे नही । लेकिन प्रभो ! मैं उसका फल यही चाहता हू कि जब मेरे प्राण निकलनेका समय आवे तब आपके नामके जो अक्षर हैं उनके पठनमे कंठ न रुके । जिन जीवोका सुमरण होता है, वे भगवान या आत्माका अनुभवन करते करते व विकल्प अवस्थामे भगवानका नाम लेते लेते [illegible] जाते हैं । मरणका दुख उन जीवो को होता है जिनको वाह्यपदार्थमे मोह वा राग द्वेष होता है । जि [illegible] नही उनका मरण दु[illegible]दाई नही होता । माना वे अपने वैभव और परिवारको लेकर साथ जा रहे हो । मोही जीव तो सोचता कि ये सब यहां ही छूट जा रहे हैं और ज्ञानी जीव सोचता है कि मेरा वैभव सब साथ जा रहा है । कोई बडे अफसरका तबादला होता तो उस घर छोडनेका दुख नही होता, क्योकि उसे घरकी चीज साथ ले जाने की और जानेको पूरी सुविधा मिलती है । ज्ञानी जीवको भी यह अनुभव नही होता कि मैं कुछ छोड कर जा रहा हू । जो छुटा था वह तो छुटा ही है और जो साथ था वह साथ ही रहता है । आत्माके साथकी जो परिणामिकी स्वाभिवी है व उसके गुण है, [illegible] मार्दवता है और स्वानुभूति रमणी है । अपना यह सारा वैभव संभालकर जाता है ज्ञानी । वह चाहता है तो यही कि अगले भवमे जिनेन्द्रका स्मरण बना रहे । यह धर्म अगले भवमे भी मिल सा [illegible] बात ही क्या ? इस तरह पूजक अपनी समाधिकी भावना करता हुआ भगवानके प्रति जो भाव लगाये है उसमे जो निर्मलता हुई है उसमे [illegible] होता हुआ अनिम [illegible] करके जिनदर्शन विधिका समाप्त करता है और मन्दिरसे घरकी तरफ आता है । घरके कामो मे फसना पडता है, [illegible] कुछ विपादसा होता है लेकिन [illegible] याद रखता है उस तो होना ही पडेगा, अब तक कि उसमे [illegible] नही पा [illegible] । [illegible] विकल्पोमे फसे रहने वालोके लिये भगवत् पूजाकी भूमिका बडा [illegible] है । [illegible] मनपद बिना [illegible] नाव नही जाते । [illegible] करते करते निश्चयकी प्राप्ति हो जाती है । [illegible] ही साधक है, उनकी दृष्टिमे निश्चय [illegible] नही [illegible] । लेकिन [illegible]

पहुंचने योग्य व्यवहार या शुभ उपयोग आता ही है। अब इसे चाहे किन्हीं शब्दोमे कहले लेकिन श्रद्धा यथार्थ रहनी चाहिये, असली मर्म प्रतीतिका है। शब्दोमे कैसा भी कहो, धर्म-आराधनामे व्यवहार धर्मका भी स्थान अपनी सीमा तक प्रतिष्ठित ही है। मूर्ति और मंदिर के आश्रयसे हम लोगोको कितना धर्म लाभ होता है? निराकुलतासे सामाजिक स्वाध्याय होता। अपने स्वरूपके बोधमे कारणभूत जितेन्द्रका दर्शन पूजन होता। धर्मचर्चा और सत्समागम होता।

अन्तर्बाह्य धर्मायतनसे परमार्थलाभ लेनेका अनुरोध—प्रत्येक भाईको उपलब्ध धर्मायतनसे भरपूर लाभ लेना चाहिये। दर्शन पूजन स्वाध्याय और सामायिक आदिसे समयका सदुपयोग करना चाहिये। समय जो निकल जाता है वह वापिस नही आता। घड़ी की बात यही सूचित करती है। आप कितने भी चतुर और बलिष्ठ हो, लेकिन समयको पीछे लानेकी ताकत किसीमे नही है। वह तो धाराप्रवाहसे चलता ही रहता है। यदि समयका सदुपयोग कर लिया, जिनेन्द्रकी भक्ति करके जिनस्वरूपसे नाता जोड लिया, स्वाध्याय द्वारा तत्त्वज्ञान कर लिया, धर्मोपदेश श्रवण मनन करके तत्त्वचर्चा करके अपने ज्ञानको वा भावनाओ को पुष्ट बना लिया तो संतोषपूर्वक मरण कर सकेगे। समतासे प्राण छूटेगे। और प्राण छूटकर तत्क्षण ही शुभगतिकी प्राप्ति होगी अन्यथा पछतावा शेष रहेगा। मरते समय असंतोष लेकर प्राण छूटेगे और मृत्युके बाद तत्क्षण ही दुर्गतिकी यातनायें भोगना चालू हो जावेगी। इस कालमे जिनेन्द्र भगवानकी पूजा और स्वाध्याय कल्याणके लिये ये दो बातें परम उपकारी और महत्त्वपूर्ण है। उनसे लाभ ले लेना प्रत्येक मानवका कर्तव्य है। जरा अन्तर्दृष्टि करिये व पहिचानिये—य परात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्तत.। अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थिति ॥ वस्तुत बात यह है जो कि परमात्मा है वही मैं हू और जो मैं हू वह परमात्मा है। इस लिये मेरे द्वारा मै ही उपास्य हूं, अन्य कोई अन्तर्व्यवस्था नही है। वस्तुको स्वभावसे परखा जाता है। यदि स्वभाव देखता हूँ तब मैं और परमात्मपदमे पहुंचे हुए आत्मा सब समान है। परमसमाधिके लिये भी निजस्वभावमे पहुंचना है और अन्तमें तो इसी स्वभावमे स्थिति होनेकी अवस्था होना है, सो उस सबके मूल निज परमपारिणामिक भावका परिज्ञान प्रत्यय व अनुष्ठानकी आवश्यकता है। अत. मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूं, वह मैं स्वभावरूप हू, वही स्वभाव देवके आश्रयसे देखना था। अतः स्वभावभक्तिमे देवभक्ति गर्भित है। उस स्वभावका परिज्ञान कैसे हो अथवा स्वभाववान निज आत्माका परिज्ञान कैसे हो? इस विषयमे भ० श्री कुन्दकुन्ददेवने कहा है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥

द्रव्यत्व, गुणत्व व पर्यायत्वसे श्रीजिनके परिचयमें आत्मपरिचय व मोहविलय— जो अरहतको द्रव्यत्व गुणत्व पर्यायत्वसे जानता है वह आत्माको जानता है और उसका मोहभाव विनाशको प्राप्त होता है। भगवानमे और हममे द्रव्यत्व और गुणत्वसे पूर्ण समानता है, केवल पर्यायत्वसे भेद है। वे निर्विकार हैं हम रागादि विकारसे युक्त हैं। सो द्रव्यत्व व अभेदगुणत्वरूप परमपारिणामिक भावके ध्यान व एकतानके प्रतापसे वह पर्यायत्व प्रकट होता है जो अरहत प्रभुका है। भगवानके पर्यायत्वकी स्वभावसे अनुरूपता है। अत प्रभुके ध्यानमे अभीष्टकी सिद्धिका उपाय है एतदर्थ एव देवकी उपासना है। सो हे मित्र गण! अनेक अवलम्बनके वातावरणमे भी प्रभुके विशुद्ध परिणमनको देखो और उस विशुद्ध परिणमनके स्रोतस्वरूप परमपारिणामिक भावको देखो जिसके अनन्तर सहज ही द्वैतदृष्टि नष्ट होकर निजपरमपारिणामिक भावमे अनुष्ठान हो और परमसमाधि हो। इससे ही सब क्लेशोका अत्यन्त अभाव होकर परमशान्त सुखमय अवस्था प्रकट होती है।

ॐ नम शुद्धेभ्य । परमपारिणामिकभाव (अनुकूलयितु) नम ।

॥ ॐ शान्ति ॥

इस प्रकार अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज का
जबलपुर वर्षायोग सन् १९५४ मे जो देवपूजापर
प्रवचन हुआ था, वह सम्पूर्ण हुआ।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

❀ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ❀

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः प्राप्स्यन्ति चापुरचलं सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्र, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमिं, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः ।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति ॥